पुस्तक :
उपाध्याय अमर मुनि : व्यक्तित्व और कृतित्व

लेखक :
विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

मूल्य :
तीन रुपये

प्रथम प्रवेश :
सन् १९६२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामंडी, आगरा

लेखक

अपने प्रिय पाठकों के पाणि-पद्मों में 'व्यक्तित्व और कृतित्व' का यह सुन्दर, मधुर एवं सुरभित कुसुम समर्पित करके मुझे परम प्रसन्नता है। कुसुम कैसा है ? इसका निर्णय पाठकों की अभिरुचि पर छोड़कर मैं उसकी चिन्ता से सर्वथा विमुक्त हो गया हूँ।

पूज्य गुरुदेव के जीवन-सागर के उजले मोती, मैं कितने निकाल पाया हूँ, यह कह सकना मेरे लिए सरल न होगा। महासागर में अगणित और अमित रत्न होते हैं, गोताखोर उसमें से कितने निकाल पाता है ? बस, यही स्थिति मेरी भी है।

पाठक यह सोच सकते हैं, और जैसा कि मुझे विश्वास है, वे वैसा सोचेंगे भी, कि एक शिष्य ने अपने गुरु की कोरी प्रशंसा की है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से उनका यह विभ्रम स्वतः ही दूर हो जाएगा। एक साहित्यकार के समक्ष गुरु-शिष्य का सम्बन्ध—भले ही वह कितना भी पवित्र एवं कितना भी मधुर क्यों न हो ? गौण ही रहता है। यही दृष्टिकोण लेकर मैं चला हूँ। फिर भी श्रीहर्ष के शब्दों में, मैं यह स्वीकार करता हूँ।

"वाग्जन्म-वैफल्य मसह्य शल्यं,
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ?"

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन में, पूज्य गुरुदेव के लघु गुरु भ्राता श्री अखिलेश मुनि जी की सतत प्रेरणा रही है। अतः इस सुन्दर-कार्य में उनकी प्रेरणा को कैसे भूल सकता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक के पठन-पाठन से यदि पाठकों को कुछ भी लाभ पहुँचा, तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

—विजय मुनि

प्रकाशक

सन्मति ज्ञानपीठ के संस्थापक श्रद्धेय उपाध्याय अमरचन्द्र जी महाराज के नाम से समाज में आज कौन व्यक्ति ऐसा है, जो भली-भाँति परिचित न हो ! आवाल-वृद्ध उन्हें सब जानते हैं, और पहचानते हैं। उनका जानना इतना आश्चर्य-जनक नहीं, जितना उनको न जानना आश्चर्य-जनक है।

प्रस्तुत पुस्तक न उनका जीवन चरित्र है और न जीवनी, यह तो उनके विशाल व्यक्तित्व का और विराट कृतित्व का परिचय मात्र है। पुस्तक का नाम है—"**उपाध्याय अमर मुनि : व्यक्तित्व और कृतित्व।**"

यह कृति श्री विजय मुनि जी की है। इसके अतिरिक्त मुनि जी ने उपध्याय जी महाराज के जीवन के सम्बन्ध में दो पुस्तकें और लिखी हैं—एक है, "**उपाध्याय अमर मुनि : एक अध्ययन**" दूसरी है, "**उपाध्याय अमर मुनि : विहार यात्रा के मधुर संस्मरण।**"

"व्यक्तित्व और कृतित्व" की भाषा प्राञ्जल और प्रवाहशील है। शैली सरस और सुन्दर है। उपाध्याय श्री जी के व्यक्तित्व का विश्लेपण वहुत ही सुन्दर वन पड़ा है और उनके कृतित्व का परिचय संक्षेप में होकर भी सर्वांगीण है। इस प्रकार की पुस्तक की माँग वहुत दिनों से समाज में चल रही थी। हमारी भावना का आदर करते हुए श्री विजय मुनि जी ने इस कार्य को वहुत सुन्दर रीति से किया है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग के रूप में एक सज्जन ने गुप्त दान में २०१ रु० का दान दिया है। इस आर्थिक सहयोग के लिए हम उनका धन्यवाद करते हैं। नाम विना का यह दान एक आदर्श है।

सन् १९६२ का यह प्रथम प्रकाशन पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए हमें महान् हर्ष होता है।

सोनाराम जैन
मन्त्री
सन्मति ज्ञानपीठ

कहाँ क्या है ?

समर्पण

उस विराट व्यक्ति के कलित-कर-कमलों
में, जिसके विषय में सन्देह-
रहित होकर, यह कहा
जा सकता है—

He has in him the best of East and West,

जो नूतन होकर भी पुरातन है, और पुरातन होकर भी नूतनतम।

—विजय मुनि

अमर-सूक्ति-सुधा

साहित्य में अतीत काल की प्रेरणा, वर्तमान काल का प्रतिविम्ब और भविष्य काल की सुनहरी आशा होती है।

× × ×

जो व्यक्ति जितनी अधिक तीव्रता से प्रेम करता है, उसे उतना ही अधिक कष्ट सहन करना पड़ता है। क्योंकि प्रेम सदा वलिदान के आधार पर ही पनपता है।

× × ×

मनुष्य जव शरीर के प्रलोभनों से ऊँचा, वहुत ऊँचा, उठ जाता है, तभी वह आत्मा के दिव्य आलोक की आभा को अधिगत करने में सफल हो सकता है।

× × ×

विचार, साधक के पथ के अन्धकार को नष्ट करने वाला आलोक है, और आचार, जीवन की उस शक्ति का नाम है, जो साधक में अवश्य होनी चाहिए।

× × ×

धर्म का आधार है—भावना, दर्शन का आधार है—वुद्धि-प्रसूत तर्क, कला का आधार है—मानवी मन की अभिरुचि, और संगीत का आधार है—मन की मस्ती।

× × ×

व्यक्तित्व और कृतित्व

प्रस्थान

प्रत्येक युग में किसी-न-किसी दिव्य पुरुष का जन्म होता ही है—जो अपनी महानता से, अपनी दिव्यता से समाज को और संसार को जगमगा देता है। वह अपने युग के गले-सड़े और घिसे-पिटे विश्वास, विचार और आचार में क्रान्ति करता है। वह असत्य से तब तक लड़ता रहता है, जब तक उसके तन में प्राण-शक्ति है, मन में तेज है और वचन में ओजस् है। स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण में भी उसकी प्रगाढ निष्ठा, गहरी आस्था एवं अचल श्रद्धा रहती है। महापुरुष वही होता है, जो समाज को विकृति से हटाकर संस्कृति की ओर ले जाता है। उसका गन्तव्य-पथ कितना भी दुर्गम क्यों न हो? उसमें इतना तीव्र अध्यवसाय होता है कि उसके लिए दुर्गम भी सुगम बन जाता है। रास्ते के शूल भी फूल हो जाते हैं। लोग भले ही निन्दा करें या प्रशंसा, उसकी तनिक भी चिन्ता उसे नहीं होती। वह जन-जीवन का अनुसरण नहीं करता, जन-चेतना स्वयं ही उसका अनुकरण करती है। क्योंकि वह जो कुछ सोचता है, जन-कल्याण के लिए। वह कुछ बोलता है, जन-सुख के लिए। वह जो कुछ करता है, जन-मंगल के लिए। उसकी वाणी का एकमात्र यही स्वर मुखरित होता है—

"अर्पित है मेरा मनुज-काय,
सब जन-हिताय सब जन-सुखाय।"

युग-पुरुष अपने युग का प्रतिनिधि होता है। उसका जीवन युग की समस्याओं से और युग की परिस्थितियों से प्रभावित होता तो है, परन्तु वह उसमें संसक्त होकर स्थिर नहीं होता है। जब कि सामान्य जन-

चेतना अपने युग की समस्याओं और परिस्थितियों में आबद्ध होकर हैरान तथा परेशान हो जाती है, तभी वह अपनी मुक्ति के लिए मुक्तिदाता की खोज करती है। प्रत्येक महापुरुष अपने युग में विचार, वाणी और कर्म को नया मोड़ देता है, नया रास्ता देता है। किसी भी युग-पुरुष को समझने के लिए उसके व्यक्तित्व का, उसके साहित्य का और क्रिया-कलाप का अध्ययन परम आवश्यक है, अन्यथा उस युग-पुरुष को समझने में भूल हो सकती है, भ्रान्ति हो सकती है।

स्थानकवासी समाज में समय-समय पर अनेक युग-पुरुष हो चुके हैं। समाज को उन्होंने नया कर्म दिया, नयी वाणी दी और नया विचार दिया। यदि उन युग-पुरुषों ने समाज को यह संवल न दिया होता, तो समाज कभी का छिन्न-भिन्न हो गया होता। समाज के एक-मात्र आधार वे ही युग-पुरुष होते हैं, जो समय आने पर अपने प्राणों की वाती जलाकर समाज को आलोक प्रदान करते हैं। वे ज्योतिर्मय युग-पुरुष धन्य हैं, जो समाज को पतन के महागर्त से वचाकर उत्थान के महामार्ग पर ले जाते हैं। युग-पुरुष अपनी समाज का शिव होता , जो स्वयं विषपान करके भी दूसरों को अमृत प्रदान करता है।

स्थानकवासी समाज के युग-पुरुषों की उसी परम्परा में श्रद्धेय कविरत्न, उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज हैं। इन्होंने समाज को नया विचार, नया चिन्तन, नयी वाणी और नयी भाषा दी है। वस्तु-तत्त्व को सोचने-समझने और परखने का नया तरीका एवं नया ढंग दिया है। प्रसुप्त समाज को प्रबुद्ध करने का नया मंत्र और नया नारा दिया है। विखरे समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रवल प्रयत्न किया है। समाज के कल्याण के लिए, समाज के विकास के लिए और समाज के संघटन के लिए जो कुछ भी किया जाना उचित था, वह सब कुछ उन्होंने किया है। विचार-क्रान्ति का आन्दोलन खड़ा करके उन्होंने समाज की तरुण शक्ति को नया दिशा-संकेत दिया है।

कवि जी महाराज क्या है? वे स्थानकवासी समाज के शिव हैं। उन्होंने सदा से समाज को अमृत वाँटा है, और अमृत वाँटने में ही उनका अडिग विश्वास है। उन्होंने अपना तन, मन और

जीवन—सब कुछ समाज को अर्पित कर दिया है। समाज के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने त्याग किया है, वलिदान दिया है, तपस्या की है। यह सब कुछ करके भी वे अपने मन में कभी यह नहीं सोचते कि मैंने कुछ किया है, और उसका प्रतिफल मुझे मिलना चाहिए। सब कुछ करके भी कृतित्व के अहंकार से वे कोसों दूर हैं। वे अनासक्त योगी हैं, जो कर्म करके भी कभी कर्म-फल की आकांक्षा नहीं करते। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपाध्याय श्रद्धेय अमरचन्द्र जी महाराज हमारी समाज के युग-पुरुष हैं, दिव्य पुरुष हैं और महापुरुष हैं।

उपाध्याय अमर मुनि जी समाज के सबसे अधिक लोक-प्रिय नेता हैं। सारा समाज उन से प्रेम करता है, क्योंकि वे भी समाज को प्यार करते हैं। जिसने अपना सारा जीवन ही समाज को समर्पित कर दिया है, भला समाज उसे प्यार क्यों नहीं करेगा? वे समाज के हैं और समाज उनका अपना है। वे समाज के सेवक हैं क्योंकि समाज-सेवा ही उनके जीवन का एक-मात्र लक्ष्य है। वे समाज के नेता हैं, क्योंकि समाज को उनके नेतृत्व में अडिग विश्वास है।

आज समाज में कौन व्यक्ति है, जो उनसे और उनके कार्यों से परिचित न हो? अतः उनके परिचय की विशेष आवश्यकता नहीं है। श्रमण-संघटन और साहित्य-रचना ही स्वयं उनका वास्तविक परिचय है।

पटियाला राज्य में नारनौल (गोधा) आपकी जन्म-भूमि है। माता का दुलार, पिता का स्नेह, भाई-वहिनों का प्रेम और परिजनों का प्यार आपको खूब खुल कर मिला। साहस, वीरता और कष्ट-सहिष्णुता आपके पैतृक गुण हैं। क्षत्रिय कुल में जन्म होने से सदा निर्भय रहना आपका सहज स्वभाव है। आपके पिता लालसिंह जी जैन-सन्तों के तप और त्याग से वहुत प्रभावित थे। सन्तों की वाणी सुनने का उनको वड़ा शौक था। माता चमेली देवी के निर्मल हृदय में भी सन्तों के प्रति सहज भक्ति-भाव की धारा प्रवहमान थी। माता-पिता के साथ में पुत्र भी धीरे-धीरे धर्म

के रंग में रंगता रहा। और अन्दर ही अन्दर वैराग्य सागर तरंगायित होता रहा। एक दिन वह स्वर्ण अवसर भी आया, जबकि पिता के साथ पुत्र ने पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज के दर्शन किए। पूज्य श्री की भविष्यदर्शी आँखें बालक में छिपी अदृष्ट दिव्य ज्योति को निहार गईं। पिता से पूज्य श्री ने कहा—यह ज्योति केवल घर के आंगन तक ही नहीं, विश्व गगन में प्रकाशमान होनी चाहिए। इधर पूज्य श्री का यह संकेत और उधर पुत्र का विवेक और वैराग्य इतना वेगवान् था, कि माता कि ममता और पिता का मोह भी उसे बाँध रखने में सर्वथा असमर्थ हो गया।

वह विवेक-शील किशोर केवल बारह-तेरह वर्ष की वय में गृह-त्याग करके पूज्य मोतीराम जी महाराज की सेवा में आकर रहने लगा। सन्त बनने की पूरी शिक्षा लेकर चौदहवें वर्ष में वह अमरसिंह से अमर मुनि बन गया। जमुना पार में गंगेरू (जि० मुजफ्फर नगर) ग्राम में आपकी दीक्षा हुई थी। पूज्य मोतीराम जी महाराज ने अपने प्रिय शिष्य पूज्य पृथ्वीचन्द्र जी महाराज का शिष्य आपको बनाया। सन्त बनकर तीन लक्ष्य आपने अपने जीवन के बनाए—संयम-साधना, ज्ञान-साधना और गुरु-सेवा।

आपके पूज्य गुरुदेव पृथ्वीचन्द्र जी महाराज बहुत ही शान्त प्रकृति के सन्त हैं। शान्ति और सरलता आपके जीवन के सबसे बड़े गुण हैं। संस्कृत, प्राकृत, और गुजराती आदि अनेक भाषाओं के आप पण्डित हैं। आगम और आगमोत्तर साहित्य का मन्थन आपने खूब किया है। आपकी प्रवचन शैली बड़ी सुन्दर, सरस एवं मधुर है। आपके दो शिष्य हैं—बड़े शिष्य उपाध्याय अमर मुनि जी और छोटे शिष्य अखिलेश मुनि जी। अखिलेश मुनि जी भी संस्कृत भाषा के पंडित हैं। व्याकरण, साहित्य, आगम आदि ग्रन्थों का आपने खूब अभ्यास किया है। परन्तु सन्त-सेवा में आपको विशेष रस आता है। सन्त-सेवा करना ही आपके जीवन का लक्ष्य बन गया है। त्याग, तपस्या और सरलता आपके विशेष सद्गुण हैं।

उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज के दो शिष्य हैं—विजय मुनि और सुरेश मुनि।

विजय मुनि और सुरेश मुनि दोनों ही संस्कृत में शास्त्री और हिन्दी में साहित्य रत्न हैं। संस्कृत विश्व-विद्यालय काशी की साहित्य मध्यमा और प्रयाग की साहित्य विशारद परीक्षा भी उक्त दोनों मुनियों ने दी है।

संक्षेप में उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज के परिवार की परिचय-रेखा इस प्रकार है—
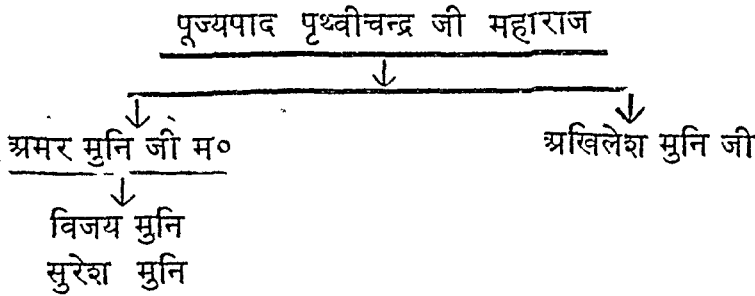
श्रमण-संघ बनने से पूर्व श्रद्धेय पृथ्वीचन्द्र जीमहाराज अपनी सम्प्रदाय के आचार्य एवं पूज्य थे। परन्तु सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर समाज संघटन के लिए आपने अपने आचार्य पद का त्याग कर दिया था। अब श्रमण-संघ की व्यवस्था के अनुसार आप मंत्री पद पर हैं।

श्रद्धेय अमरचन्द्र जी महाराज भी पहले अपनी सम्प्रदाय के उपाध्याय थे। किन्तु सादड़ी सम्मेलन में आपने भी संघ एकता के लिए उपाध्याय पद का परित्याग कर दिया था। पर, भीनासर सम्मेलन में आपको फिर से श्रमण-संघ का उपाध्याय पद दिया गया। उपाध्याय पद आपके व्यक्तित्व और कृतित्व के अनुकूल ही है। श्रमण-संघ ने आपको उपाध्याय बनाकर वस्तुतः अपना ही गौरव बढ़ाया है।

सर्वतोमुखी व्यक्तित्व

प्रकाश-पुञ्ज :

एक प्रकाशमान व्यक्तित्व—जिसे लोग 'कवि जी' के नाम से जानते, पहचानते और मानते हैं। नाम अमर मुनि होने पर भी लोग 'कवि जी' कहना ही अधिक पसन्द करते हैं। 'कवि जी' इन तीन अक्षरों में जो शक्ति है, जो व्यक्तित्व है और जो आकर्षण है—वह अद्भुत है, वह बे-जोड़ है, वह अपनी शानी का आप ही है। वर्तमान शती का, स्थानकवासी समाज के लिए, यह एक महान् चमत्कारमय जीवन है। एक वह जीवन, जो स्वयं भी प्रकाशमान है, और समाज को भी प्रकाशमान बना रहा है। 'कवि जी' का अर्थ है—जन-जीवन की एक अजस्र ज्योतिर्मय धारा। 'कवि जी' एक वह महाव्यक्तित्व है—जो विचार के सागर में गहरा गोता लगाकर, समाज को संस्कृति, धर्म और दर्शन तत्त्व के चमकते मोती लाकर देता है। 'कवि जी' —जो विवेक, वैराग्य और भावना के पवित्र प्रतीक हैं।

जीवन-रेखा :

सरल और सरस मानस, तर्क-प्रवण प्रज्ञा तथा मृदु और मधुर वाणी—ये तीनों तत्त्व जिस तेजस्वी व्यक्तित्व में एकमेक हो गए हैं, उस महामहिम व्यक्तित्व का परिचय है—'उपाध्याय, कविरत्न, श्रद्धेय अमरचन्द्रजी महाराज।' इसका संक्षेप होगा—'उपाध्याय अमर मुनि'। इसका भी संक्षेप होगा—'कवि जी'।

वात-चीत में नवनीत से भी अधिक मृदु, कुसुम से भी अधिक कोमल। तर्क में एवं विचार-चर्चा में कुलिशादपि अधिक कठोर, चट्टान से भी अधिक सुदृढ़। व्यवहार में चतुर, परन्तु अपने विचार में अचल, अकम्प और अडोल।

जीवन के सुषमामय अरुणोदय में गीतकार, जीवन के सुरभित वसन्त में कोमलकवि, जीवन के तप्यमान मध्य में दार्शनिक, विचारक समाज-संघटक और जागरण-शील जन-चेतना के लोक-प्रिय अधिनेता।

जो एक होकर भी सम्पूर्ण समाज है, और जो समाज का होकर भी अपने विचारों की सृष्टि में सर्वथा स्वतंत्र है। जो व्यष्टि में समष्टि है और समष्टि में व्यष्टि है। जो एकता में अनेकता की साधना है, और जो अनेकता में एकता की भावना है।

जन-चेतना के संस्मृति-पट पर जो सदा स्पष्ट, निर्भय निर्द्वन्द्व होकर आए। प्रसुप्त जन-चेतना को प्रबुद्ध करने वालों में जो सब से अधिक लोकप्रिय हैं, सब से अधिक सजग हैं।

समाज-संघटन के सूत्रधार, संयोजक और व्याख्याकार होकर भी जो अपनी सहज विनय-विनम्र वृत्ति से वृद्धानुयायी रहे हैं। जो अपने से बड़ों का विनय करते हैं, साथी जनों का समादर करते हैं, और छोटों से सदा स्नेह करते हैं।

स्नेह, सद्भाव, सहानुभूति, सहयोग और समत्व-योग के जो अमर साधक हैं। अमर, अमर है। वह अपने जैसा आप है।

शब्द-चित्र :

लम्बा और भरा-पूरा शरीर। कान्तिमय श्याम वर्ण। मधुर मुस्कान-शोभित मुख। विशाल भाल। चौड़ा वक्षःस्थल। प्रलम्ब बाहु। सिर पर विरल और धवल केश-राशि। उपनेत्र में से चमकते-दमकते तेजोमय नेत्र, जो संमुखस्थ व्यक्ति के मनःस्थ भावों को परखने में परम प्रवीण हैं। सफेद खादी से समाच्छादित यह प्रभावकारी और जादू भरा बाहरी व्यक्तित्व, आन्तरिक विशुद्ध व्यक्तित्व का अव्यभि-चरित अनुमान है। सादा जीवन, उच्च विचार।

सीधा-सादा रहन-सहन। साधु-जन प्रायोग्य परिमित उपकरण। धर्म, दर्शन और सिद्धान्त प्रतिपादक कतिपय ग्रन्थ। बस, यही तो उपाध्याय, कविरत्न, श्रद्धेय अमरचन्द्र जी महाराज की व्यवहार-दृष्टि से अपनी सम्पत्ति है—साधक जीवन की साधना के उपकरण हैं।

संगम-स्थल :

नयी धारा और पुरानी धारा के समन्वयकारी सुन्दर संगम-स्थल। बड़ों के प्रति असाधारण विनम्र, छोटों के प्रति असाधारण स्नेह-शील। जो भी पास में आया, वह कुछ-न-कुछ विचार-तत्त्व लेकर ही गया। विचारों का दान जो सभी को उन्मुक्त-भाव से देते हैं। जो कुछ आता है, अथवा जो कुछ पाया है—'उसे खुलकर प्रदान करो।' यह उनका जीवन-सूत्र है।

विचार-चर्चा में जिन्हें जरा भी लाग-लपेट पसन्द नहीं, अपितु खुलकर अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की कला, जिनकी सहज एवं स्वाभाविक है। सदा अभय, सदा अखेद और सदा अद्वेष रहने वाला एक सजग, सचेत और सफल व्यक्तित्व।

जो प्रहार में भी प्रेम के, विरोध में भी विनोद के, दुत्कार में भी सत्कार के और एकता में भी अनेकता के अमर साकार रूप हैं।

मानव होकर भी देव :

संस्कृत साहित्य में देव को निर्जर कहा जाता है, क्योंकि वह कभी बूढ़ा नहीं होता है। शरीर का वृद्धत्व कुछ अर्थ नहीं रखता। मनुष्य तभी बूढ़ा होता है, जब उसके मन में उत्साह, स्फूर्ति और नये कर्म की भावना नष्ट हो जाती है। उपाध्याय अमर मुनि जी भले ही शरीर से वृद्ध हों, पर उनके दिव्य-मन में उत्साह एवं स्फूर्ति आज के किसी तरुण से कम नहीं है। कार्य की शक्ति उनमें बहुत ही प्रबल है। आज भी नया ज्ञान और नया कर्म सीखने और करने की उनकी शक्ति अद्भुत है।

मार्ग की रुकावट उनको दृढ़ बनाती है। हर बाधा नया उत्साह देती है। हर उलझन नयी दृष्टि देती है। उनमें राम जैसी संकल्प-शक्ति है। हनुमान जैसा उत्साह एवं धैर्य है। अंगद जैसी दृढ़ता एवं

वीरता है। उन्हें अपने मनोबल पर विश्वास है। दूसरे के बल पर वे कभी कोई काम नहीं करते। दूसरे के सहयोग का वे सत्कार अवश्य करते हैं। विपत्ति आती है, पर उनके साहस को देख कर लौट जाती है। तूफान आता है, उनकी दृढ़ता को देख कर लौट जाता है। वे अपने पथ पर सदा अडिग होकर चलते हैं। वे मानव हैं, पर मानव होकर भी देव हैं।

अपने प्रभु और अपने सेवक :

वे कभी किसी पर अपना प्रभुत्व नहीं थोपते। परन्तु दूसरे के प्रभुत्व को भी वे कभी सहन नहीं करते। उनकी आज्ञा को वरदान मानकर उसका पालन करने वाले उनके शिष्य हैं, परिवार के अन्य सन्त भी हैं। सेवा के सभी साधन होने पर भी वे किसी काम के लिए आदेश नहीं देते। दूसरे को कहने की अपेक्षा उन्हें स्वयं काम करने में अधिक आनन्द आता है। अपने स्वयं के लिए और आवश्यकता पड़ने पर किसी भी साधु-सन्त की सेवा के लिए आलस्य, प्रमाद एवं अशक्ति की अनुभूति नहीं करते। पढ़ना और पढ़ाना, लिखना और लिखवाना तथा विचार-चर्चा करने में वे कभी भी सुस्ती का अनुभव नहीं करते। दिन में कभी भी आप उनकी सेवा में जाकर देखिए—वे कुछ लिखते, कुछ पढ़ते अथवा कुछ विचार-चर्चा करते हुए ही आपको मिलेंगे। वे इतने परिश्रम-शील हैं, कि अपने जीवन का एक क्षण भी वे व्यर्थ नहीं खोना चाहते।

दिन में अधिकतर वे पढ़ने और लिखने का काम करते हैं। रात्रि में ध्यान, चिन्तन और स्वाध्याय करते हैं। आज भी ग्रन्थ के ग्रन्थ उनके मुखाग्र हैं, याद हैं। सारी रात व्यतीत हो जाने पर भी उनकी वाग्धारा बन्द न होगी। वे चलते फिरते पुस्तकालय हैं। आगम, दर्शन और धर्म-विषयक ग्रन्थों के उद्धरण आप उनसे कभी भी पूछ सकते हैं। वे आपको प्रसंग-सहित और स्थल-सहित बता देंगे। यह कोई दैवी चमत्कार नहीं है। यह उनका अपना श्रम है। अपनी लगन है। अपना अध्यवसाय है। उन्होंने जो कुछ भी अपने जीवन का विकास किया है, वह अपने परिश्रम के बल पर ही किया है। अतः वे अपने प्रभु आप हैं, वे अपने सेवक आप हैं।

सफलता का मूल मन्त्र :

कुछ लोग इस बात की चर्चा करते रहते हैं, कि कवि जी के पास ऐसा कौन-सा जादू है, कि वे जिस काम को उठाते हैं, उसमें सफल हो जाते हैं। सन्त-सम्मेलन के काम को हाथ में लिया, तो उसमें सफल हो गए। साहित्य-साधना की, तो उसमें सफल हैं। निशीथ-भाष्य और निशीथ-चूर्णि जैसे भीमकाय ग्रन्थ के सम्पादन का काम हाथ में पकड़ा, तो उसे शानदार ढंग से पूरा किया। आखिर, इन सफलताओं का मूल मंत्र उनके पास में कौन-सा है, और क्या है ?

यह बात स्पष्ट है, कि कवि जी महाराज किसी भी मंत्र, तंत्र एवं यंत्र में विश्वास नहीं करते। फिर भी यह सत्य है, कि वे अपने प्रारब्ध कार्य में सदा सफल होते हैं। इस सफलता का रहस्य है, उनके मनोबल में और योगबल में। वे जिस काम को हाथ में लेते हैं, उसमें पूरी तरह जुट जाते हैं। सफलता का मुख देखे बिना वे कभी चैन से नहीं बैठते। काम छोटा हो, या बड़ा—उस काम का उत्तर-दायित्व लेने के बाद उसे पूरा करने के लिए पूरा मनोबल और मनोयोग लगा देते हैं। आधे मन से काम करना उन्हें पसन्द नहीं है। कवि जी महाराज की सफलता का एक मात्र यही राज़ है। मनोबल और मनोयोग के बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती है। जब वे किसी ग्रन्थ का लेखन आरम्भ करते हैं, तब पूरा मनोयोग उसमें लगा देते हैं। बस, यही उनकी सफलता का केन्द्र-बिन्दु है।

स्वतन्त्र व्यक्तित्व :

उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज का व्यक्तित्व एक ऐसा व्यक्तित्व है, जो किसी पर भी आधारित नहीं है, बल्कि दूसरों को आधार देने वाला है। उन्होंने अपना विकास अपनी शक्ति पर किया है। उनका व्यक्तित्व सर्वथा स्वतंत्र है। न वह किसी को दबाता है, और न किसी से दबना ही जानता है। दूसरों का शोषण कभी उन्होंने किया नहीं, और दूसरों के शोषण के शिकार वे कभी बनते नहीं। उनका व्यक्तित्व इतना अद्भुत, इतना अनोखा और इतना ऊर्जस्वित

है, कि न वह अपने पर अन्याय को सहन करता है, और न दूसरों पर होने वाले अन्याय को देख ही सकता है। यह व्यक्तित्व इतना शक्तिमान् है, कि उसके सामने आकर विरोधी भी अनुरोधी बन जाता है। इस व्यक्तित्व में इतना प्रबल तेजस्, ओजस् एवं वर्चस् है, कि किसी के भी अन्याय और अनुचित दबाव को वह कथमपि सहन नहीं कर सकता।

भीनासर सम्मेलन के बाद में कुछ श्रावकों ने साधुओं पर हुकूमत करने के लिए एक 'अनुशासन समिति' की मांग की थी, जिसका उद्देश्य था—साधुओं पर श्रावकों का शासन, गृहस्थों की हुकूमत। कुछ राह भूले सांप्रदायिक मानस के श्रावकों ने ही अनुशासन के नाम पर यह सब स्वाँग खेला था।

आश्चर्य है, कि इस अनुचित एवं अयोग्य मांग के विरोध में किसी भी सन्त ने विरोध नहीं किया। सब पर जैसे श्रावकों का आतंक छा गया था। परन्तु उपाध्याय अमर मुनि जी ने अपने वक्तव्य के द्वारा उस अनुचित एवं सर्वथा अयोग्य मांग का डटकर विरोध किया। उस वक्तव्य में आपके स्वतंत्र व्यक्तित्य का वास्तविक संदर्शन होता है। उस वक्तव्य का कुछ अंश मैं यहाँ पर दे रहा हूँ, जिससे कि पाठक कवि जी महाराज के स्वतंत्र व्यक्तित्व का कुछ आभास पा सकेंगे। उक्त वक्तव्य का शीर्षक है—'अनुशासन के नये घेरे में'—"साधु-संघ, सावधान!" वह वक्तव्य इस प्रकार है—

"भारत के सांस्कृतिक इतिहास में साधु-सन्त का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि भारतीय इतिहास में से साधु-जीवन के उज्ज्वल पृष्ठों को अलग कर दिया जाए, तो एक विचारक की भाषा में—अंधकार के अतिरिक्त यहाँ प्रकाश की एक किरण भी न मिलेगी।

एक दिन वह था, जब साधु-संघ सर्वतोभावेन अपनी नीति-रीति पर स्वतन्त्र था। वह स्वयं ही अपना शासक था और स्वयं ही अपना शासित। वह अपने निर्णय आप करता था और आप ही उन पर निर्बाध भाव से उन्मुक्त गज-गति से चलता था। उस पर न किसी का दबाव था, और न किसी का शासन ही था। फलतः उसके निर्णय में किसी का कोई दखल न था। हम प्राचीन आगम ग्रन्थों, भाष्यों, चूर्णियों और टीकाओं में साधु-संघ की इस आत्म-नियन्त्रित

स्वतन्त्रता का चमकता हुआ, उज्ज्वल प्रकाश आज भी देख सकते है—सौभाग्य से यदि कोई देखना चाहे तो !

परन्तु आज क्या है ? आज साधु-संघ परतन्त्र है। इधर-उधर की शृङ्खलाओं से जकड़ा हुआ है। वह अनन्त गगन में उन्मुक्त विहार करने वाला पक्षी पिंजरे में बन्द है। पता नहीं, अपने साधु-जीवन सम्बन्धी निर्णय करने में भी वह क्यों इधर-उधर देखता है ? उसके पथ में इधर-उधर से क्यों दखल दिया जाता है ? वह क्यों नहीं इधर-उधर की बाधाओं को चुनौती दे सकता ? वह क्यों दूसरों के अवैधानिक निर्णयों के समक्ष अपना सिर झुकाए हुए है ? वह अपने भाग्य को दूसरों के हाथों में देकर क्यों इतना लाचार और बेवश हो रहा है ? दुर्भाग्य से वह अपना पथ भूल गया है। अपना अधिकार खो बैठा है। अपने आसन से नीचे उतर आया है। यह सब उसके महान् भविष्य के लिए खतरे की घंटी है। काश, आज का साधु-संघ अपने कर्त्तव्य को, अपने गौरव को पहचान पाता !

जैन साधु-संघ का अतीतकाल महान् रहा है। वह दूसरे साधुओं की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र रहा है, सर्वतः उन्मुक्त भी। उस पर एक मात्र भगवान् की आज्ञा का और आचार्य की आज्ञा का अनुशासन रहा है। इसके अतिरिक्त दूसरे किसी का अनुशासन उसने अन्यत्र तो क्या, स्वप्न में भी स्वीकार नहीं किया है। परन्तु खेद है, आज वह भी 'अनुशासन समितियों' के चक्कर में उलझ गया है। अपना भाग्य-निर्णय दूसरों के हाथों में सौंप रहा है। शास्त्र-दृष्टि से तो साधु पर साधु का अनुशासन होना चाहिए। पर, आज साधुओं पर गृहस्थों का अनुशासन चलेगा। यह दुर्दैव की विडम्बना नहीं, तो और क्या है ? मालूम पड़ता है, कि आज के साधु का साधुत्व मर चुका है।

आज साधु-संघ पर शासन करने के लिए सार्वजनिक घोषणा के रूप में 'अनुशासन समिति' बन रही है। संस्कृति-संरक्षण के नाम पर साधु-संघ को डराने-धमकाने के लिए 'जैन-संस्कृति रक्षक संघ' बन रहा है। श्रावक संघ का एक वर्ग-विशेष इधर-उधर बौखलाया फिर रहा है। ये आनन्द और कामदेव के प्रतिनिधि—गौतम तथा सुधर्मा के प्रतिनिधियों के मौत के वारंट निकालने में लगे हुए हैं,

और आश्चर्य है—यह सब होते हुए भी इन्हें साधु-संघ के माता-पिता होने का गर्व है! साधु-संघ के प्रति उनके मन में कितनी सद्भावना है? यह तो इनके लेखों, भाषणों और कारनामों से स्पष्टतः हर कोई देख सकता है।

मैं नहीं समझता, यह कार्य-पद्धति जैन-धर्म का क्या हित करती है? साधु-संघ का क्या भला करती है? इस प्रकार साधु-संघ को बदनाम करने में कुछ लोगों को क्या मजा आता है? यह ठीक है, कुछ साधु भूलें करते हैं, गलती करते हैं, उनको अपने दोषों का दण्ड मिलना ही चाहिए। मैं शत-प्रतिशत साधु-संघ के शुद्धिकरण का पक्ष-पाती हूँ। दूषित जीवन, वह भी साधु का, वस्तुतः कलंक की बात है। किन्तु एक बात है, इस सम्बन्ध में किसी वैधानिक मार्ग का अनुसरण होना आवश्यक है। साधु-संघ पर शासन करने वाले आचार्य हैं, अन्य अधिकारी मुनि हैं, उनके द्वारा कार्यवाही होनी चाहिए। वे दोषी को प्रायश्चित्त दें। यदि कोई प्रायश्चित्त स्वीकार न करे, तो उसे संघ से बहिष्कृत घोषित करें। पर, साधु-संघ पर अवैधानिक कुशासन न हो। यदि इस सम्बन्ध में कुछ भी ठीक तरह से नहीं सोचा गया, तो मैं पूछता हूँ, फिर आचार्य का अपना क्या मूल्य है? अन्य अधिकारी मुनियों के अधिकारों का क्या अस्तित्व है? यह आचार्य एवं अन्य अधिकारी मुनियों का स्पष्ट अपमान नहीं, तो और क्या है? इतना ही नहीं, यह तो जिनागम का अपमान है। आगम नहीं कहते, कि ऐसा किया जाए। आगम तो साधु-संघ का शासन साधुओं के हाथ में देते हैं। अन्य किसी के हाथ में साधु-संघ का अनुशासन नहीं हो सकता।"

—'तरुण जैन' में प्रकाशित

सुधारवादी दृष्टिकोण :

श्रमण-संस्कृति के मूल आधार हैं—त्याग, तपस्या और वैराग्य। श्रमण-संस्कृति में बाह्याचार की शुद्धता को जितना बल मिलता है, अन्तर्मन की पवित्रता को भी उतना ही महत्व दिया गया है। श्रमण-संस्कृति भोगवादी नहीं—त्याग, तपस्या और वैराग्य की संस्कृति है। इसके मूल में भोग नहीं, त्याग है। यह भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। श्रमण-संस्कृति क्या है? भोगवाद पर त्यागवाद की विजय।

तन पर मन का जय-घोष। वासना पर संयम का जयनाद। और क्या है, वह? विचार में आचार, और आचार में विचार।

उपाध्याय अमर मुनि जी श्रमण-संस्कृति के पावन-पवित्र अग्रदूत हैं। त्याग, तपस्या और वैराग्य के वे साकार रूप हैं। जीवन की विशुद्धि में उनका अगाध विश्वास है।

कविश्री जी क्या हैं? ज्ञान और कृति के सुन्दर समन्वय। विचार में आचार, और आचार में विचार। उन्होंने निर्मल एवं अगाध ज्ञान पाया, पर उसका अहंकार नहीं किया। उन्होंने महान् त्याग किया, परन्तु त्याग करने का मोह उनके मन में नहीं है। उन्होंने तप किया, किन्तु उसका प्रचार नहीं किया। उन्होंने वैराग्य की उत्कट साधना की है, पर उसका प्रचार नहीं किया। अपने इन्हीं सद्गुणों के कारण आप श्रमण-संस्कृति के व्याख्याकार, उद्गाता सजग प्रहरी और सतेज नेता है। उनका सम्पूर्ण जीवन संघ-हित और संघ-विकास और संघ-शुद्धि के लिए ही है। वे संघ को विकास पथ पर अग्रसर होता देखना चाहते हैं। अतः संघ-हित के लिए और समाज के एकीकरण के लिए वे अपने स्वास्थ्य की भी चिन्ता नहीं करते।

उन्होंने समाज को नया विचार-दर्शन दिया। समाज के इतिहास को नया रास्ता बताया। उन्होंने अपने गुलाबी बचपन में ज्ञान की साधना की, अपने यौवन के वसन्त में साहित्य की साधना की, प्रौढ़ अवस्था में बिखरी समाज का एकीकरण किया और आज भी उनका पावन जीवन समाज को कुछ-न-कुछ दे ही रहा है। उनका जीवन वरदान रूप है। काश, उनके मंगलमय जीवन से हम मंगल, कल्याण और अमृत ग्रहण कर सकें। निश्चय ही वे अमृत-वर्षी सन्त हैं, किन्तु उस अमृत को ग्रहण करने के लिए, धारण करने के लिए सत् पात्र भी तो कोई होना चाहिए!

उपाध्याय अमर मुनि जी हमारी समाज के उन महापुरुषों में से एक हैं, जिन्होंने समाज के भविष्य को वर्तमान में ही अपनी भविष्य वाणी से साकार किया है। उन्होंने अपने जीवन की साधना से अतीत के अनुभवों का, वर्तमान के परिवर्तनों का और भविष्य की सुनहरी आशाओं का साक्षात्कार किया है।

धर्म, दर्शन और संस्कृति की उन्होंने युगानुकूल व्याख्या की है। उन्होंने कहा है, कि जो गल-सड़ गया है, उसे फैंक दो और जो अच्छा है, उसकी रक्षा करो। उनकी इस वात को सुनकर कुछ लोग धर्म के खतरे का नारा लगाते हैं। इसका अर्थ केवल इतना ही हो सकता है, कि उन लोगों का स्वार्थ खतरे में है, किन्तु धर्म तो स्वयं खतरों को दूर करने वाला अमर तत्त्व है।

शिथिलाचार का विरोध :

उपाध्याय जी महाराज ने अपने सुधारवादी दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए एक वार कहा था—"लोग सुधार के नाम से क्यों डरते हैं? सुधार डरने की वस्तु नहीं है। वह तो जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। सुधार से घबराने वाला व्यक्ति कभी धर्म को समझ नहीं सकता। सुधार से न तो कभी धर्म विकृत होता है, और न धर्म की परम्परा ही कभी दूषित होती है। सुधार के विना साधना और साधना-हीन सुधार—दोनों ही वास्तव में पंगु हैं।"

वे समाज और जीवन—दोनों का सुधार चाहते हैं। जैन-संस्कृति के प्रधान अंग हैं - श्रमण, सन्त एवं साधु-जन। यदि वे स्वयं विकृत हैं, तो समाज का सुधार कैसे होगा? सन्त को अन्दर और वाहर—दोनों से पावन एवं पवित्र रहना चाहिए। सन्त-जीवन का वे आदर अवश्य करते हैं, परन्तु सन्त-जीवन की कमजोरियों को वे कभी क्षमा नहीं करते। सन्त-जीवन सदा निष्कलंक रहना चाहिए। उपाध्याय जी महाराज के विचार में सुधार का अर्थ यह नहीं है, कि समाज को तो सुधार का उपदेश दिया जाए, और सन्त का जीवन स्वयं दूषित रहे।

श्रमण-संघ में वे किसी भी प्रकार के शिथिलाचार को देखना नहीं चाहते हैं। शिथिलाचार, कदाचार और हीनाचार का सदा से उन्होंने डटकर विरोध किया है। पाली काण्ड पर उन्होंने जो वक्तव्य दिया था, उससे जाना जा सकता है, कि वे कदाचार के कितने घोर विरोधी रहे हैं। पाठकों की जानकारी के लिए उनके उस वक्तव्य के कुछ अंश मैं यहाँ पर दे रहा हूँ। उस वक्तव्य का शीर्षक है—"आप से कुछ कहना है"—और वह इस प्रकार है—

"आप साधु हैं, निःश्रेयस के, मुक्ति के, परमात्म-भाव के साधु अर्थात् साधक ! आपका लक्ष्य है—आत्म-भाव की साधना, स्वरूप की खोज। आपका मिशन है—वासना के वन्धनों को तोड़ना, कर्मों को चकनाचूर करना और अविद्या एवं माया के जाल को छिन्न-भिन्न करना। आपके वरद कर-कमलों में आपका अपना हित संरक्षित है और सदा-सर्वदा सुरक्षित है—विश्व के प्राणीमात्र का हित !

आप श्रमण हैं, अपने जीवन की चरम ऊँचाइयों को प्राप्त करने के लिए सतत श्रम करने वाले वीर आत्मा ! आपको श्रम करना है, संघर्ष करना है, लड़ना है—अन्दर के शत्रुओं से, विकारों से, वासनाओं से। आपका श्रम है—जैनत्व के माध्यम से जिनत्व का स्व में प्रतिष्ठान। आपको अपने ही श्रम से, अपने ही पुरुषार्थ से, अपने ही प्रयत्न से, जिन वनना है, विजेता वनना है। आपकी विजय-यात्रा वीच में किसी मंजिल पर रुकी रहने के लिए नहीं है। आपकी विजय-यात्रा का चरम लक्ष्य है—अनन्त-अनन्त विराट् आत्म-साम्राज्य का सर्वतंत्र-स्वतंत्र सम्राट् वनना !

आपकी प्रतिष्ठा आज की नहीं, कल की नहीं, हजार-दो-हजार वर्षों की नहीं, महाकाल के आदि-हीन युग से आपकी यशोगाथा दिग्दिगन्त में गूँजती आ रही है। भू-मण्डल पर आपकी अमल-धवल कीर्तिपताका अनन्त-अनन्त काल में अविराम भाव से फहराती रहेगी। काल की सीमाएँ आज तक न आपको घेर सकी हैं, और न भविष्य में ही घेर सकेंगी। 'नमो लोए सव्व साहूणं' के रूप में आपका पवित्र जप आज भी कोटि-कोटि जनता के मनोमल को धोने के लिए गंगा के विशाल प्रवाह के समान उपयोग में आ रहा है। हाँ, तो आप अजर हैं, अमर हैं। आपका पवित्र जीवन अजर है, अमर है। आपका निर्मल यश भक्तों के चिदाकाश में अजर है, अमर है।

विश्व के दूसरे साधु अपने-अपने पथ पर वढ़े और फैले, किन्तु शीघ्र ही भूले और भटके भी। आज से नहीं, चिर अतीत से दूसरे साधु मठों में वन्द रहे हैं, लक्ष्मी के चरणों में ठुकराते रहे हैं, सत्ता-प्राप्त अधीश्वरों के कृपाकटाक्ष के लिए लालायित रहे हैं। और तो क्या, सुरा-सुन्दरी तक के कुचक्र से अपने को वचा नहीं पाए। यह

केवल पड़ौसियों पर कटु-कटाक्ष नहीं है। यह इतिहास का ज्वलन्त सत्य है, जिसको इतिहास का कोई भी सच्चा उत्तराधिकारी इन्कार नहीं कर सकता।

किन्तु एक आप हैं, आपकी आन, बान, शान, सब कुछ विलक्षण है। आपको न मठ अपने घेरे में ले सके, न लक्ष्मी के पाद की झङ्कार ही आपको चंचल कर सकी, न ऐश्वर्य की चमक-दमक ही आपकी प्रदीप्त आँखों को चुँधिया सकी। आप जिधर भी चले, भोग-विलास की, ऐश्वर्य की, सुख-सुविधाओं की माया को कुचलते चले गए। आपको न प्रलोभन के माया-पुष्पों की भीनी महक मुग्ध कर सकी, और न भय तथा आंतक के काँटों की नुकीली नोंक ही पथ-भ्रष्ट कर सकी। आप तलवारों की छाया में भी मुस्कराते रहे, इठलाते रहे। आप शूली की नोंक पर भी आध्यात्मिक मस्ती के तराने गाते रहे। आप घानी में पिलते रहे, तन की खाल को खिंचवाते रहे, आग में जीवित जलते रहे, तन के तिल-तिल टुकड़े करवाते रहे, किन्तु आपकी शान्ति भङ्ग न हो सकी। आपका अन्तर्बल दुर्बल न हो सका। आप कहीं पर भी किसी भी दशा में रहे—किन्तु लड़खड़ाए नहीं, गिरे नहीं, रुके नहीं। आपका त्याग-वैराग्य आग में पड़ कर भी काला नहीं पड़ा, अपितु अधिकाधिक उज्ज्वल होता गया, निखरता गया। महान् श्रेणिक जैसे सम्राटों के विनम्र भोग-निमन्त्रण भी आपने ठुकराए। आपने अपनी गम्भीर वाणी में भू-मण्डल के बादशाहों को भी अनाथ कहा और वह आपका प्रतप्त प्रकथन आखिर सम्राटों ने सहर्ष स्वीकार भी किया। यह था आपका अतीत, महान् अतीत, प्रकाशमान अतीत। इसी चिर-गौरव का आज भी यह शुभ परिणाम है कि आपके लिए, जैन-श्रमणों के लिए, महाश्रमण महावीर के उत्तराधिकारियों के लिए, झोंपड़ी से लेकर राज-महलों तक के द्वार सर्वत्र अव्याहत रूप से खुले हैं। आप ही हैं, जो गृह-द्वार के बाहर खड़े भिक्षा के लिए, अलख नहीं जगाते। आप सर्वत्र घर के अन्दर तक पहुँचते हैं। चौके की सीमा रेखा के पास तक पहुँचते हैं। आपकी भिक्षा, आपकी प्रामाणिकता के आधार पर, त्याग-वृत्ति के आधार पर इस गए-गुजरे जमाने में भी सिंह-वृत्ति है, शृगाल-वृत्ति नहीं। आज आपके विरोधी भी, जैन-धर्म के विचार-पक्ष पर विष-दग्ध टीका-टिप्पणी करने वाले भी

आपके जैन-श्रमणों के आचार-पक्ष के प्रशंसक हैं। आपकी त्याग-वृत्ति पर राष्ट्र के महानायक भी मुग्ध हैं। आपके आचार की कठोरता की कहानी सुनकर साधारण शिक्षित-अशिक्षित जन भी आश्चर्य-भाव से दाँतों तले अँगुली दवा लेते हैं। और तो क्या, अन्य भिक्षु-परम्परा के साधु भी आपके आचार पर कभी-कभी सहज भाव से सहसा प्रशंसा मुखरित हो उठते हैं।

आपकी प्रतिष्ठा, आपकी पवित्रता पर है। आपकी पवित्रता यदि सुरक्षित है, तो आपकी प्रतिष्ठा भी सर्वथा सुरक्षित है। कितना ही कोई क्यों न निन्दनीय प्रचार करे—किन्तु यदि आप पवित्र हैं, निर्मल हैं, तो आपका यश कदापि धूमिल नहीं हो सकता, आपका विनाश वाहर के किन्हीं हाथों में नहीं है। किसी भी व्यक्ति की, संस्था की या संघ की दुर्वलता ही उसके अपने विनाश का हेतु होती है। अस्तु, आपको आज और कुछ नहीं करना है। आपको एकमात्र करना है, अपने आचार की पवित्रता के लिए सतत-सात्विक प्रयत्न। ज्वलनशील अग्नि-शिखा को भला कौन स्पर्श कर सकता? जलती हुई चिनगारियाँ अन्धकार के लिए चुनौती हैं। यदि चिनगारी वुझी, तो वस समझ लीजिए, अन्धकार के काले आवरण में सदा के लिए विलुप्त।

आपके अन्तर्मन में वैराग्य की कभी ज्वाला जगी थी, आपने सद्गुरु की वाणी का कभी महाघोप सुना था और आपके अन्तर्मन का कण-कण चिर-निद्रा से जागा था। आप मुनि-वृत्ति के लिए मचल पड़े थे। आपके कदम तलवार की धार पर दौड़ने के लिए चंचल हो उठे थे। आप जव घर से निकले, तो सारा घर हा-हाकार कर उठा था। आपके आदरणीय माता-पिता, आपकी स्नेहशील धर्मपत्नी, आपके प्रेम-वन्धन में वँधे हुए भाई-वन्धु एवं पुत्र-पुत्रियाँ हजार-हजार आँसू वहाते रहे, आपको भुजाएँ प्रसार कर रोकते रहे, किन्तु आप नहीं रुके। आपका मानस त्याग के प्रकाश से चमक रहा था। वैराग्य की हजार-हजार जल-धाराएँ आपके अन्तर में विद्युत गति से वह रही थीं। आखिर आप साधु वन गए। भगवान् के सच्चे उत्तराधिकारी वन गए। आपकी जय-जयकार से धरती और आकाश गूँज उठे।

आपको मालूम है, आप कहाँ बैठे हैं ? आप भगवान् महावीर के सिंहासन पर बैठे हैं। आपका उत्तरदायित्व अपने और जनता के लिए बहुत बड़ा है, आपको अपने दायित्व को पूरा करने के लिए सतत सजग रहना आवश्यक है। यदि दुर्दैव के किसी भी दुरभियोग से आप जरा भी विचलित हो गए, अपने दायित्व से इधर-उधर भटक गए, तो आपका सर्वनाश सुनिश्चित है। आपका ही नहीं, जैन-धर्म का, साधु-परम्परा का एवं जनता की असाधारण भक्ति-भावना का ध्वंस भी एक प्रकार से अपरिहार्य है। आपका गौरव, जैन-धर्म का गौरव है, और जैन-धर्म का गौरव—आपका गौरव है। आप जैन-संस्कृति के भव्य प्रासाद की नींव की ईंट भी हैं, और उसके खुले आकाश में चमकते रहने वाले स्वर्ण-कलश भी।

आश्चर्य है—आप भूल जाते हैं, भटक जाते हैं, प्रलोभन के मायाजाल में फँस जाते हैं। कनक-कामिनी का कुचक्र आपको ले डूबे, यह कितनी लज्जा की वात है ? गौतम और सुधर्मा के वंशज—अपना विवेक-विज्ञान सहसा गँवा बैठें—यह जैन-धर्म पर घातक चोट है, श्रमण-परम्परा पर कलंक का काला धब्बा है। जब मैं आपकी कुछ लोगों के मुँह से निन्दा सुनता हूँ, समाचार-पत्रों में आपके शिथिलाचार की बातें पढ़ता हूँ, तो हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। जब मैं आपके नैतिक जीवन के पतन की अफवाह उड़ती हुई पाता हूँ, तो आँखें लज्जा से झुक जाती हैं। क्या आज काम-विजेता स्थूल-भद्र के उत्तराधिकारियों के हाथों में अपनी ही बहनों एवं पुत्रियों की पवित्रता सुरक्षित नहीं है ? यदि यह बात है, तो फिर साधुता का दिखावा क्यों ? यह दम्भ क्यों ? नहीं, आपको संभलना होगा। अपने को अपनी आत्मा और समाज के प्रति ईमानदार बनाना होगा। भगवान् महावीर के अनुशासन के प्रति अपने को वफादार बनाए विना साधु वेष में रहना महापाप है। और सब छोटी-मोटी भूलें क्षम्य हो सकती हैं, यथावसर नजरंदाज की जा सकती हैं, किन्तु यह नैतिकता शून्य आचरण कभी भी क्षम्य नहीं हो सकता। आप रूप, रुपया और रूपसी के मोहक मायाजाल में फँसते जाएँ, भोग-विलास की दल-दल में धँसते जाएँ और ऊपर से साधुता के मिथ्याभिमान से हँसते जाएँ, यह नहीं हो सकता। समाज की अन्तरात्मा कितनी ही दुर्बल क्यों न

हो, किन्तु यह स्वच्छन्द नग्नता कभी सहन नहीं कर सकती। समाज का मस्तक आपके इन चर्मावनद्ध अस्थि-चरणों में झुकने के लिए नहीं है, वह झुकता है—आपके त्याग, वैराग्य के पवित्र चरणों में। वेष अधिक दिनों तक जनता को भुलावे में नहीं रख सकता। जिनदास महत्तर के शब्दों में—'केवल ओदन-मुण्ड साधु, धर्म के पवित्र नाम पर पलने वाले गन्दी मोरी के जहरीले कीटाणु हैं। उन्हें जल्दी-से-जल्दी समाप्त होना ही चाहिए। उनकी समाप्ति धर्म, संघ एवं समाज के लिए मङ्गलमय होगी। वरदान रूप होगी।'

आप में से कुछ साथी सम्भव है, अधिक विचार के साथ साधुता के पथ पर न आए हों? सम्भव है, आप को साधु-जीवन की सही स्थिति न समझाई गई हो? सम्भव है, शिष्यव्यामोह के कारण गुरु ने आपके प्रति अपना दायित्व ठीक-ठीक न निभाया हो? सम्भव है, आप भावुकता के काल्पनिक वातावरण में ही घर से निकल पड़े हों और भोजन एवं वसन की तुच्छ समस्या-पूर्तियों में ही उलझ कर रह गए हों? कोई बात नहीं, अब संभल कर चलिए। प्रलोभन की विघ्न-बाधाओं से टक्कर लेने के लिए सीना तानकर चलिए। अन्दर में से विकारों को बाहर न उभरने दीजिए। यदि कभी प्रसंगवश उभर भी आएँ, तो उन्हें वहीं कुचलकर समाप्त कर दीजिए। आप संघ के प्रकाशमान दीपक हैं। अपका अस्तित्व अन्धकार में खोने के लिए नहीं, अपितु अन्धकार को खोने के लिए है। यदि कभी पहले भूलें हुई भी हों, तो उन पर शुद्ध भाव से पश्चात्ताप कीजिए। उनका यथोचित शास्त्रानुसार प्रायश्चित कीजिए। देखना—वह प्रायश्चित हो, प्रायश्चित का नाटक नहीं। अन्दर में भूल पर भूल करते जाना और बाहर में प्रायश्चित पर प्रायश्चित लेते जाना—दम्भ है, माया है, वंचना है, धोखा है। यह दम्भ साधक को गलाता है, और साथ ही समाज को भी।

आप यदि अपने विकारों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, गिर-पड़ कर भी सवार हो जाते हैं, तब तो ठीक है। यदि आप अपने मन पर अधिकार नहीं पा सकते, वासनाओं के दुष्प्रसंगों पर संभल नहीं सकते, बार-बार चेतावनी मिलने पर भी आपकी दुर्बलता अपनी आदत से बाज नहीं आती, तो ईमानदारी का तकाजा है कि आप

अपने को साधु-जीवन की पवित्र परिधि से बाहर निकाल लें। सच्ची साधुता के विना साधु-वेप का कोई अर्थ नहीं है। प्रामाणिकता के साथ पुनः गृहस्थ दशा में लौट आना कोई बुराई नहीं। बुराई है, उस पद पर वने रहना, जिस पद के लिए व्यक्ति मूल में योग्य नहीं है। यदि आप स्वयं इतना साहस करें, तो आपका यह साहस आपको भी ऊँचा उठाएगा, और आपके धर्म तथा समाज को भी। और कोई कुछ भी कहे, मैं तो आपके इस सत्साहस की प्रशंसा करूँगा। हजार-हजार धन्यवाद करूँगा।

वात जरा कड़वी हो गई है, किन्तु वर्तमान वातावरण इतनी कड़वी वात कहने को मजबूर करता है। आप और हम श्रमण हैं। आपका और मेरा गौरव कोई भिन्न-भिन्न नहीं है। मैं आपके चरणों में हजार-हजार वर्षों तक जनता को श्रद्धा के साथ झुकती देखना चाहता हूँ, और यह तभी सम्भव है, जव कि आप और हम अपने अतीत गौरव को वर्तमान में उतारें।"

—'जैन-प्रकाश' में प्रकाशित

संस्कृति और संयम के कलाधर :

संस्कृति और संयम की उपलब्धि ही साधक की साधना का एक मात्र लक्ष्य है। भारतीय परम्परा एवं संस्कृति का समूचा विकास और उत्कर्ष ही सन्त-संस्कृति का सच्चा इतिहास है। विचार, व्यवहार और वाणी के त्रिवेणी-तट पर सन्त का भव्य-भवन प्राणिमात्र के लिए निर्भय आश्रम स्थल है। सन्त का पावन जीवन—काल व देश की सीमाओं से वहुत ऊँचा उठा हुआ—एक पवित्र व्यक्तित्व है। सन्त सदा स्वाश्रयी और स्वावलम्वी होता है। हमारे देश के प्रतिभावान् सन्तों के कारण ही हमारा अतीत-काल अत्यन्त उज्ज्वल, उत्प्रेरक एवं वल-वर्धक रहा है। यह संस्कृति और संयम ही श्रमण-परम्परा की आत्मा है। सन्त-परम्परा का मुख्य आधार है—उसका संयम, उसका तप और उसका वैराग्य। अधिकतर संयम का सम्वन्ध सन्त से माना जाता है, और संस्कृति का कलाकार से। परन्तु मैं सन्त और कलाकार में किसी प्रकार का मौलिक भेद नहीं मानता हूँ, क्योंकि कलाकार शव्दों का शिल्पी है, तो सन्त जीवन का। कलाकार अपने मनोभावों

को वाहरी उपादानों से सजाकर अभिव्यक्त करता है, तो सन्त अपने मानस की समत्व-मूलक प्रशस्त भावनाओं द्वारा जन-जीवन को संस्कारित करता है !

किसी भी मनुष्य की वाणी में ओजस् तभी आता है, जवकि वह अपने जीवन की प्रयोगशाला में से ढलकर खरा निकले। वाचिक बल की सफलता व्यक्ति के साधना-मूलक जीवन की यथार्थता पर ही अवलम्बित है। जीवन विकास पर अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार ही अनुभवशील व्यक्तित्व को है। गम्भीर चिन्तन ही संस्कृत व्यवहार का कारण है। विचारों की परिपक्वता ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को चिर जीवित रख सकती है।

कविवर मुनिश्री अमरचन्द्र जी महाराज के प्रवचन सुनने का सौभाग्य जिनको मिला है, और उनके गम्भीर विचारों के अध्ययन का सुअवसर जिनको मिला है, वे लोग उक्त तथ्य को भली-भाँति समझ सकते हैं। मुझे कहना चाहिए कि कवि जी महाराज न केवल सन्त ही हैं, अपितु वे एक कलाकार भी हैं। कलाकार का सरस मानस उन्हें मिला है। तभी तो उनकी मधुर वाणी का प्रत्येक स्वर श्रोताओं की हृदय-तन्त्री के तारों को झंकृत कर देता है। वे विचारों के सम्राट् हैं, वे वाणी के वादशाह हैं। गम्भीर से गम्भीरतम उलझनों को उनकी कला सरलता के साथ में सुलझा देती है। संयमशील सन्त में विचारों की संस्कृति का और वाणी की कला का इतना उदात्त निखार आया है, जो अपने आप में वे-जोड़ है, अनोखा है, अद्भुत है। कविवर का जीवन—विचार की संस्कृति का और वाणी की कला का सुन्दर, मधुर और मनोहर संगम वन गया है। संयम के धरातल पर संस्कृति और कला की जिस ज्योति का आविर्भाव हुआ है, जनता उसी को 'कवि जी' नाम से जानती है।

संस्कृति का वे प्रसार चाहते हैं, कला का वे प्रचार चाहते हैं, परन्तु संयम के माध्यम से, संयम के आधार से। क्योंकि विना संयम के संस्कृति, विकृति वन सकती है, और विना संयम के कला, विलास वन सकती है। अतः कवि जी संयम-मूलक संस्कृति तथा संयम-मूलक कला के उपासक हैं। कवि जी महाराज उच्च कोटि के चिन्तक हैं,

उत्तम प्रकार के प्रवक्ता हैं, प्रखर चर्चावादी हैं और मधुर कवि हैं। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व एक बहुमुखी व्यक्तित्व है। वे संस्कृति और संयम के अमर कलाधर हैं।

समाज का एकीकरण :

उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज के व्यक्तित्व का गौरवपूर्ण और महत्वपूर्ण अंग है—युग-युग के बिखरे समाज का एकीकरण। स्थानकवासी समाज सदा से बिखराव की ओर ही बढ़ता रहा हैं, एकीकरण और संघटन की ओर उसके कदम बहुत कम बढ़े हैं। अजमेर सम्मेलन में अवश्य ही बिखरे समाज को समेटने का प्रयत्न किया गया था, परन्तु उसमें सफलता की अपेक्षा विफलता ही अधिकतर हमारे पल्ले पड़ी थी, क्योंकि उस समय सम्प्रदायवाद का गढ़ तोड़ा नहीं जा सका था। जब तक साम्प्रदायिक व्यामोह दूर न हो, तब तक कोई भी संघटन स्थिर नहीं हो सकता, चिर-जीवित नहीं बनता। अजमेर सम्मेलन से पूर्व कभी सन्त-जन मिल-जुलकर नहीं बैठे। कभी उन्होंने समाज की और अपनी समस्याओं पर एक जगह मिल-बैठकर विचार नहीं किया। एक-दूसरे को समझ नहीं सके, परख नहीं सके। फिर सफलता की आशा भी कैसे की जा सकती थी ? फिर भी अजमेर सम्मेलन को सर्वथा असफल भी नहीं कहा जा सकता। कुछ न होने से कुछ होना सदा अच्छा कहा जाता है, माना जाता है।

परन्तु सादड़ी सम्मेलन में—जिसका नेतृत्व, महामनस्वी उपाध्याय अमर मुनिजी के हाथ में था—विफलता की अपेक्षा सफलता के अधिक दर्शन होते हैं। इसके तीन कारण हैं—

१. जन-चेतना की जागृति।

२. सादड़ी सम्मेलन से पूर्व भी सन्तों का मेल-मिलाप और बात-चीत।

३. कवि जी महाराज का असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण और संघटन में प्रबल निष्ठा।

युग-युग से बिखरे स्थानकवासी समाज की दुर्दशा को देखकर कवि जी महाराज के कोमल मानस में बड़ी पीड़ा होती थी। सम्प्रदायों

में व्याप्त विग्रह, कलह और संघर्ष को देख-सुन कर उन्हें एक प्रकार की मानसिक वेदना रहती थी। वे चाहते थे, कि यदि समाज का एकीकरण हो जाए, तो समाज अपना विकास कर सकता है। अपनी बिखरी शक्ति को एकत्रित करके वह महान् कार्य कर सकता है।

सन् १९५० के अपने व्यावर वर्षावास में कवि जी महाराज के मन में यह प्रबल भावना उत्पन्न हुई, कि समाज का एकीकरण होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अतः आपने अपना कार्य-क्षेत्र राजस्थान को बनाया। सादड़ी सम्मेलन से पूर्व निरन्तर दो वर्षों तक आप राजस्थान में घूमे-फिरे। सम्मेलन के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार की। सन्त-सम्मेलन को सफल करने के लिए आपने इतना घोर श्रम किया कि अजमेर में बहुत दिनों तक अस्वस्थ रहे। परन्तु समाज के एकीकरण की बलवती भावना ने और गहरी निष्ठा ने स्वास्थ्य की जरा भी चिन्ता नहीं की।

आपने अपने ओजस्वी प्रवचनों से और तेजस्वी लेखों से संघटन के लिए, जन-जन के प्रसुप्त मानस को प्रबुद्ध किया। श्रावकों के मन में यह भावना जागृत की, कि सम्मेलन का होना बहुत ही आवश्यक है। दूसरी ओर आपने गुलाबपुरा के 'स्नेह-सम्मेलन' में तथा सादड़ी को जाते हुए 'अजमेर' में और ब्यावर में एकत्रित सन्त मुनिवरों से सादड़ी सम्मेलन के विषय में खुलकर विचार-विनिमय भी किया। दूसरों के विचार सुने और अपने स्पष्ट विचार भी दूसरों के सम्मुख रखे। उस समय के कुछ प्रवचनों और लेखों की झाँकी मैं यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत कर रहा हूँ। ये प्रवचन एवं लेख - 'जैन-प्रकाश' में प्रकाशित हो चुके हैं —

सम्मेलन के पथ पर :

"साधु-सम्मेलन की शुभ वेला जैसे-जैसे समीप होती जाती है, वैसे-वैसे हम साधु लोग उससे दूर भागने की कोशिश करते हैं। साधु-सम्मेलन से, अर्थात् अपने ही सधर्मी और अपने ही सकर्मी बन्धुओं से हम इतना भयभीत क्यों होते हैं ? इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर कौन दे सकता है ?

आज हमारे साधु-समाज में सामूहिक भावना का लोप होकर वैयक्तिक भावना का जोर बढ़ता जा रहा है। हम समाज के कल्याण-कर्म से हटकर अपने ही कल्याण-बिन्दु पर केन्द्रित होते जा रहे हैं। शायद हमने भूल से यह समझ लिया है, कि अपनी-अपनी सम्प्रदाय की उन्नति में ही समाज की उन्नति निहित है। इस भावना को बल देकर आज तक हमने अपनी समाज का तो अहित किया ही है, साथ में यह भी निश्चित है, कि हम अपना और अपनी सम्प्रदाय का भी कोई हित नहीं साध सके हैं।

आज के इस समाजवादी युग में हम अपने आप में सिमिट कर अपना विकास नहीं कर सकते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सहयोग के बिना आज जबकि जीवित नहीं रह सकता है, तब एक सम्प्रदाय, दूसरे सम्प्रदाय के सहयोग के बिना अपना विकास कैसे कर सकता है? साधु-समाज को आज नहीं, कल यह निर्णय करना ही होगा कि हम व्यक्तिगत रूप में जीवित नहीं रह सकते। अतः हम सब को मिल कर संघ बना लेना चाहिए। इस सिद्धान्त के बिना हम न अपना ही विकास कर सकते हैं, और न समाज तथा धर्म का ही।

युग-चेतना का तिरस्कार करके कोई भी समाज फल-फूल नहीं सकता। युग की मांग को अब हम अधिक देर तक नहीं ठुकरा सकते हैं। और यदि हमने यह गलती की, तो इसका बुरा ही परिणाम होगा।

साधु-सम्मेलन का स्थान और तिथि निश्चित हो चुके हैं। इस शुभ अवसर को किसी भी भाँति विफल नहीं होने देना चाहिए। दुर्भाग्य-वशात् यदि हमारा साधु-समाज जाने या अनजाने, अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति में, सम्मेलन में सम्मिलित न हो सका, तो इस प्रमाद से हमें ही नहीं, वरन् हमारे समाज और धर्म को भी निश्चय ही क्षति होगी।

अतएव सम्मेल में सम्मिलित होने के लिए प्रत्येक प्रतिनिधि को दृढ़ संकल्प करके निश्चित स्थान की तरफ विहार करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि अब हमारे पास बहुत ही कम समय रह गया है। हमारा दो वर्ष का परिश्रम सफल होना ही चाहिए। यदि हम प्रामाणिकता के

साथ अपने गन्तव्य स्थान की तरफ चल पड़े, तो यह निश्चित है कि हम अवश्य ही सम्मेलन में पहुँच सकेंगे।

आज की बात केवल इतनी ही है। कुछ और भी है, अवसर मिला तो वह भी किसी उचित समय पर लिखने की अभिलाषा रखता हूँ।"

सन्त-सम्मेलन की आवश्यकता :

"किसी भी समाज, राष्ट्र और धर्म को जीवित रहना हो, तो उसका एक ही मार्ग है—प्रेम का, संगठन का। जीवित रहने का अर्थ यह नहीं है, कि कीड़े-मकोड़ों की भाँति गला-सड़ा जीवन व्यतीत किया जाए। जीवित रहने का अर्थ है—गौरव के साथ, मान-मर्यादा के साथ, इज्जत और प्रतिष्ठा के साथ शानदार जिन्दगी गुजारना। पर, यह तभी सम्भव है, जबकि समाज में एकता की भावना हो, सहानुभूति और परस्पर प्रेम-भाव हो।

हमारा जीवन मंगलमय हो। बात बड़ी सुन्दर है, कि हम मंगलमय और प्रभुमय बनने की कामना करते हैं। पर, इसके लिए मूल में सुधार करने की महती आवश्यकता है। यदि अन्दर में बदबू भर रही हो, काम-क्रोध की ज्वाला दहक रही हो, द्वेष की चिनगारी सुलग रही हो, मान और माया का तूफान चल रहा हो, तो कुछ होने-जाने वाला नहीं है। ऊपर से प्रेम के, संगठन के और एकता के जोशीले नारे लगाने से भी कोई तथ्य नहीं निकल सकता। समाज का परिवर्तन, तो हृदय के परिवर्तन से ही हो सकता है।

मैं समाज के जीवन को देखता हूँ कि वह अलग-अलग खूँटों से बँधा है। आपको यह समझना चाहिए, कि खूँटों से मनुष्यों को नहीं, पशुओं को बाँधा जाता है। यदि हमने अपने जीवन को अन्दर से साम्प्रदायिक खूँटों से बाँध रखा है, तो कहना पड़ेगा कि हम अभी इन्सान की जिन्दगी नहीं बिता सके हैं। हम मानव की तरह सोच नहीं सके हैं, प्रगति के पथ पर कदम नहीं बढ़ा सके हैं। ऐसी स्थिति में हमारा जीवन मनुष्यों जैसा नहीं, पशुओं जैसा बन जाता है। क्योंकि पशुओं के हृदय, पशुओं के मस्तिष्क व पशुओं के नेत्र, पशुओं के कर्ण और पशुओं के हाथ-पैर उनके अपने नहीं होते - वे होते हैं, मांगे हुए,

वे होते हैं गिरवी रखे हुए, उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं रहता। उनका दिल और दिमाग स्वतन्त्र मार्ग नहीं बना पाता। चरवाहा जिधर भी हाँके, उन्हें उधर ही चलना होता है।

इसी प्रकार जो मनुष्य अपने-आपको किसी सम्प्रदाय, गच्छ या गुट के खूँटे से बाँधे रखता है, अपने को गिरवी रख छोड़ता है, तो वह पशु-जीवन से किसी भाँति ऊपर नहीं उठ सकता है। संस्कृत साहित्य में दो शब्द आते हैं—'समज' और 'समाज'। भाषा की दृष्टि से उनमें केवल एक मात्रा का ही अन्तर है। पर, प्रयोग की दृष्टि से उनमें बड़ा भारी अन्तर रहा है। पशुओं के समूह को 'समज' कहते हैं और मनुष्यों के समूह को 'समाज' कहते हैं। पशु एकत्रित किए जाते हैं, पर मनुष्य स्वयं ही एकत्रित होते हैं। पशुओं के एकत्रित होने का कोई उद्देश्य नहीं होता, कोई भी लक्ष्य नहीं होता। किन्तु मनुष्यों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनका उद्देश्य होता है, लक्ष्य होता है। जिस प्रकार पशु स्वयं अपनी इच्छा से एकत्रित न होकर उनका 'समज' चरवाहे की इच्छा पर ही निर्भर होता है, उसी प्रकार आज का साधु वर्ग भी अखबारों की चोटों से, इधर-उधर के संघर्षों से एकत्रित किए जाते हैं। जिनमें अपना निजी चिन्तन नहीं, विवेक नहीं—उन्हें 'समाज' कैसे कहा जा सकता है, वह तो 'समज' है।

हमारा अजमेर में एकत्रित होना सहज ही हुआ है, और मैं समझता हूँ—हमारा यह मिलन भी मंगलमय होगा। किन्तु हमारा यह कार्य तभी मंगलमय होगा, जब हम सब मिलकर भगवान् महावीर की मान-मर्यादा को शान के साथ अक्षुण्ण रखने का संकल्प करेंगे। हमें जीवन की छोटी-मोटी समस्याएँ घेरे रहती हैं, जिनके कारण हम कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। जब साधु-सन्त किसी क्षेत्र में मिलते हैं, तब वहाँ एक सनसनी पूर्ण वातावरण फैल जाता है। दो-चार मंजिल दूरी से ही भय-सा छा जाता है कि अब क्या होगा? अन्दर में काना-फूँसी चलने लग जाती है। अजमेर में एकत्रित होने से पूर्व मुझ से पूछा गया कि—महाराज, अब क्या होगा? मैंने कहा—"यदि हम मनुष्य हैं, विवेक-शील हैं, तो अच्छा ही होगा।"

साधु-जीवन मंगलमय होता है। साधु-सन्त जहाँ-कहीं भी एकत्रित होते हैं, वहाँ का वातावरण मंगलमय रहना ही चाहिए। वे

जहाँ-कहीं भी रहेंगे, वहाँ प्रेम, उल्लास और सद्भाव की लहरें ही नजर में आएँगी। मुनियों के सुन्दर विचार नयी राह खोज रहे हैं, युग के अनुसार स्वतन्त्र चिन्तन की वेगवती धारा प्रवाहित हो रही है। अब जमाना करवट बदल रहा है। हमें नये युग का नया नेतृत्व करना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपने उपयोगी पुरातन मूलभूत संस्कारों की उपेक्षा कर देंगे? वृक्ष का गौरव मूल में खड़ा रहने में ही है, उसे उखाड़ फेंकने में नहीं। हम देखते हैं कि वृक्ष अपने मूल रूप में खड़ा रहता है और शाखा-प्रशाखाएँ भी मौजूद रहती हैं, केवल पत्र ही प्रति वर्ष बदलते रहते हैं। एक हवा के झोंके में हजारों-लाखों पत्ते गिर पड़ते हैं। फिर भी वृक्ष अपने वैभव को लुटता देख कर रोता नहीं। बाग का माली भी वृक्ष को ठूंठ रूप में देख कर दुःख की आहें नहीं भरता क्योंकि वह जानता है कि इस त्याग के पीछे नया वैभव है, नवीन जीवन है।

इसी प्रकार जैन-धर्म का मूल कायम रहे, शाखा-प्रशाखाएँ भी मौजूद रहें। यदि उन्हें काटने का प्रयास किया गया, तो केवल लकड़ियों का ढेर रह जाएगा। अतः उन्हें स्थिर रखना ही होगा। किन्तु नियम-उपनियम रूपी पत्ते जो सड़-गल गए हैं, जिन्हें रूढ़ियों का कीट लग गया है, उनमें समयानुसार परिवर्तन करना होगा। उनके व्यामोह में पड़कर यदि उन्हें कायम रखने का नारा लगाते हो, तो तुम नव-चेतना का अर्थ ही नहीं समझते हो। नया वैभव पाने के लिए पुरातन वैभव को विदा देनी ही होगी। उनको स्तीफा दिए बिना जीवन में नव-वसन्त खिल ही नहीं सकता। पतझड़ के समय पुरातन पत्तों को अपनी जगह का मोह त्यागना ही पड़ेगा।"

—(३-४-५२)

सादड़ी सम्मेलन जिन्दाबाद :

"करीबन दो साल से जिसकी तैयारी हो रही है, वह साधु-सम्मेलन अब निकट भविष्य में ही सादड़ी में होने जा रहा है। मारवाड़ के ऊँट की तरह हमारे सम्मेलन ने भी बहुत-सी करवटें बदलीं। परम सौभाग्य है कि अब वह सही और निश्चित करवट से बैठ गया है। सादड़ी में चारों तरफ से सन्त-सेना अपने-अपने सेनानी के अधिनायकत्व में

एकत्रित होती चली आ रही है। यह एक महान् हर्ष है, कि चलता-फिरता सन्त तीर्थ अक्षय तृतीया से अपने भावी जीवन का एक सुमहान् विधान बनाने जा रहा है। यह विधान एक ऐसा विधान होना चाहिए जिसमें सम्प्रदायवाद, पद-विवाद, शिष्य-लिप्सा और गली-सड़ी परम्परा न रह कर, एक समाचारी और मूलतः एक श्रद्धा-प्ररूपणा का भव्य सिद्धान्त स्थिर होगा।

क्षय हो, तुम्हारे उस सम्प्रदायवाद की—जिसके लौह आवरण में तुम्हारी मानवता का साँस घुटा जा रहा है। यह एक ऐसा विष-वृक्ष है, जिसके प्रभाव से तुम्हारा दिमाग, तुम्हारा दिल और तुम्हारे शरीर की रग-रग विषाक्त हो गयी है। यह एक ऐसा काला चश्मा है, जिसमें सब का काला ही रंग, एक ही विकृत रूप दिखाता है, जिसमें अच्छे और बुरे की तमीज तो बिल्कुल भी नहीं है।

सादड़ी के सन्त-तीर्थ में पहुँच कर हमें सब से पहले लौह आवरण का, इसी विष-वृक्ष का और इसी काले चश्मे का क्षय करना है, विनाश करना है। आज के इस प्रगति-शील युग में भी यदि कदाचित् हम इस गले-सड़े सम्प्रदायवाद को न छोड़ सके और उसे वानरी की भाँति अपनी छाती से चिपकाए फिरते रहे, तो याद रखिए—हम से बढ़कर नादान दुनिया में ढूँढ़ने से भी न मिलेगा। हम सब को मिलकर एक स्वर से, एक आवाज और परस्पर सहयोग से सम्प्रदायवाद के भीषण पिशाच से लोहा लेना है।

विचार कीजिए, आप धन-वैभव का परित्याग करके सन्त बने हैं। अपने पुराने कुल और वंश की जीर्ण-शीर्ण शृङ्खला को तोड़ कर विश्व हितंकर साधु बने हैं। अपनी जाति और बिरादरी के घरौंदे को छोड़कर गगन-विहारी विहंगम बने हैं। यश, प्रतिष्ठा, पूजा और मान-सम्मान को त्याग कर भ्रमण-शील भिक्षु बने हैं। इतना महान् त्याग करके भी आप इन पदवी, पद और टाइटिलों से क्यों चिपक गए हो? इन से क्यों निगृहित होते जा रहे हो? युग आ गया है, कि आप सब इनको उतार फैंको। यह पूज्य है, यह प्रवर्तक है, यह गणावच्छेदक है। इन पदों का आज के जीवन में जरा भी मूल्य नहीं रहा है। यदि हम किसी पद के उत्तरदायित्व को निभा सकें, तो हमारे लिए साधुत्व का

पद ही पर्याप्त है। सन्त-सेना के सेनानी को हम आचार्य कहें, यह वात शास्त्र-संगत भी है और व्यवहार सिद्ध भी। आज के युग में तो साधु और आचार्य ये दो पद ही हमें पर्याप्त हैं, यदि इनके भार को भली-भाँति सहन कर सकें तो।

याद रखिए, यह भिन्न-भिन्न शिष्य परम्परा भी विप की गांठ है। इसका मूलोच्छेद जव तक न होगा, तव तक हमारा संघटन क्षणिक ही रहेगा, वह चिरस्थायी न हो सकेगा। शिष्य-लिप्सा के कारण वहुत से अनर्थ होते हैं। शिष्य-लिप्सा के कारण गुरु-शिष्य में, गुरु-भ्राताओं में कलह होता है, झगड़े होते हैं। शिष्य-मोह में कभी-कभी हम अपना गुरुत्व-भाव, साधुत्व-भाव भी भुला वैठते हैं। हमारे पतन का, हमारे विघटन का और हमारे पारस्परिक मनो-मालिन्य का मुख्य कारण शिष्य-लिप्सा ही है। इसका परित्याग करके ही हम सम्मेलन को सफल वना सकते हैं।

अव हमें अन्ध परम्परा, गलत विश्वास सौर भ्रान्त धारणा छोड़नी ही होगी। भिन्न-भिन्न विश्वासों का, धारणाओं का, परम्पराओं का और श्रद्धाप्ररूपणा का हमें समन्वय करना ही होगा, सन्तुलन स्थापित करना ही होगा। आज न किया गया, तो कल स्वतः होकर ही रहेगा।

आओ, हम सव मिलकर अपनी कमजोरियों को पहिचान लें, अपनी दुर्वलताओं को जान लें और अपनी कमियों को समझ लें। और फिर गम्भीरता से उन पर विचार कर लें। हम सव एक साथ विचार करें, एक साथ वोलें और एक साथ ही चलना सीख लें। हमारा विचार, हमारा आचार और हमारा व्यवहार—सव एक हो।

जीवन की इन उलझी गुत्थियों को हम एक संघ, एक आचार्य, एक शिष्य-परम्परा और एक समाचारी के वल से ही सुलझा सकते हैं। हमारी शक्ति, हमारा वल और हमारा तेज—एक ही जगह केन्द्रित हो जाना चाहिए। हमारा शासन मजवूत हो, हमारा अनुशासन अनुलंघनीय हो। हमारी समाज का हर साधु फौलादी सैनिक हो, और वह दूरदर्शी, पैनी सूझ वाला तथा देश-काल की प्रगति को पहचानने वाला हो।

इस आगामी सादड़ी सम्मेलन में यदि हम इतना काम कर सके, तो फिर हमें युग-युग तक जीने से कोई रोक नहीं सकता। हमारे विधान को कोई तिरस्कृत नहीं कर सकेगा। हमारी बिगड़ती स्थिति सुधर जाएगी, हम गिरते हुए फिर उठने लगेंगे। हम रेंगते हुए फिर उठकर चलने लगेंगे, और फिर ऊँची उड़ान भी भर सकेंगे।

आओ, हम सव मिलकर सादड़ी सम्मेलन को सफल बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें, ईमानदारी से कोशिश करें। हमारी भावी सन्तान हमारे इस महान् कार्य को बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय कह सके। हमारे इस जीवित इतिहास को स्वर्णाक्षरों में लिख सके। हमारी आने वाली पीढ़ी हमारे इस महान् निर्णय पर गर्व कर सके। आने वाला युग हमारी यशोगाथा का युग-युग तक गान करता रहे। हमारा एक ही कार्य होना चाहिए, कि हम सादड़ी में सव सफल होकर ही लौटें। सम्मेलन को सफल करना ही हमारा एक मात्र ध्येय है।"

संघटन में निष्ठा :

उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज के मन में प्रारम्भ से ही यह भावना रही है, कि श्रमण-संघ में किसी प्रकार के मत-भेद पैदा न हों। सव एक-दूसरे के सहयोग से काम करें। सव एक-दूसरे का आदर करें। संघ में किसी प्रकार भी फूट पैदा नहीं होनी चाहिए। हर तरह से उन्होंने संघ को मजबूत वनाने के लिए सक्रिय प्रयत्न किए हैं। अनेक वार अनेक गहन उलझनों को सुलझाने के विवेकपूर्ण प्रयत्न किए हैं। जो संघटन एक वार वन गया है, वह फिर टूटने पर वन नहीं सकेगा। यह विचार उन्होंने वार-वार कार्यकर्त्ता मुनिवरों के समक्ष और गृहस्थों के सम्मुख भी दुहराया है। संघ को तोड़ने वाले हर प्रयत्न का उन्होंने अनेक वार डटकर विरोध भी किया है। श्रमण-संघ के संघटन में उनकी वहुत गहरी निष्ठा रही है।

सादड़ी और सोजत्त सम्मेलन के वाद ही कुछ लोगों ने श्रमण-संघ के संघटन को छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। आश्चर्य तो इस वात का है, कि कुछ लोग तो श्रमण-संघ में रह कर भी अन्दर ही अन्दर उसे तोड़ने की कोशिश कर रहे थे। घर के चिराग से घर में ही आग लग रही थी। यह सव कुछ कवि जी महाराज को

जात था। इस प्रकार के प्रयत्नों को देख-सुन कर उनके मानस में बड़ी पीड़ा होती थी। विरोधी लोग संघटन को नष्ट-भ्रष्ट कर देने पर तुले हुए थे, और कवि जी महाराज उसे अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सदा कटि-बद्ध रहते रहे। जिस संघटन को महान् परिश्रम से बनाया, जिसके निर्माण में अपने स्वास्थ्य की भी उन्होंने चिन्ता नहीं की, उसे छिन्न-भिन्न होता देखकर उन्हें बहुत दुःख होता था।

निश्चय ही यदि कवि जी महाराज इतने सतर्क न रहते, और विरोध-पक्ष के कुचक्रों से समय-समय पर संघ की रक्षा न करते, तो श्रमण-संघ कभी का छिन्न-भिन्न-हो गया होता। बाहर के विरोध की इतनी चिन्ता न थी, जितनी अन्दर के विरोध की थी। श्रमण-संघ में कुछ लोग दुमुँहे थे, जो संघ-हित की हर बात पर दो बातें करते थे। बाहर में वे लोग संघ-हितैषी का चोगा पहने रहते थे, और अन्दर में फूट की दरार डालने में कभी चूकते नहीं थे। अतः उपाध्याय जी महाराज ने अनेक बार संघ के कुछ प्रमुख लोगों से इस विषय में समय रहते प्रयत्न करने के लिए और सतर्क रहने के लिए निरन्तर कहा। कुछ समय के लिए उसका परिणाम भी बहुत सुन्दर आया। परन्तु स्वार्थ-त्याग के बिना वह वातावरण अधिक काल तक जीवित रहना कठिन था। जब तक प्रयत्न सच्चे मन से न हो, तब तक उसका परिणाम भी स्थायी नहीं होता।

एक बार तो विघटन की आवाज इतनी बुलन्द हो चुकी थी कि लोगों को यह विश्वास हो गया था कि अब श्रमण-संघ स्थिर नहीं रह सकेगा। परन्तु उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज ने और श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेंस के तत्कालीन अध्यक्ष विनयचन्द भाई ने अपने पूरे प्रयत्न से संघ की रक्षा का संयुक्त प्रयत्न किया। फलतः विरोध-पक्ष का मनोरथ सफल न हो सका। उसी प्रसंग पर कवि जी महाराज ने एक सार्वजनिक वक्तव्य भी दिया था, जो बहुत ही मार्मिक और हृदय-संस्पर्शी भी है। उसका कुछ अंश यहाँ पर देना कथमपि अनुचित न होगा। उक्त वक्तव्य में कवि जी की संघटन-निष्ठा और उनकी दूर-दर्शिता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। वक्तव्य का शीर्षक है—"कदम आगे बढ़े, पीछे न हटे!"

"एक कला-प्रवीण चित्रकार था। उसने रंग-विरंगे रंगों से और सधे हाथ की कूची से बड़े परिश्रम से एक सुन्दर, प्रिय और दर्शनीय चित्र बनाया। प्रतियोगिता महोत्सव पर उसे सजा-धजा कर रखा। देखने वाले पारखियों ने उसकी मुक्त हृदय से प्रशंसा की, क्योंकि वह एक मूल्यवान् कृति थी। विधि की विडम्बना है कि एक रोज घरवालों में से ही किसी की नासमझी के कारण वह सुन्दर चित्र नष्ट हो गया—फट गया। कलाकार को कितना दारुण दुःख हुआ होगा? इसकी कल्पना एक सर्जक ही कर सकता है, विध्वंसक नहीं कर सकता।

वर्षों की साधना से, बड़े ही परिश्रम से सादड़ी में संघटन का एक सुन्दर तथा आकर्षक चित्र बना। आस-पास की समाजों ने उसकी मुक्त-हृदय से प्रशंसा की। चिरनिद्रा से जागकर समाज नव-जागरण और नवोत्थान के पुण्य-प्रभात में सुनहली आभा से चमक उठा। इतिहास के पृष्ठों पर वह दिवस कितना सौभाग्य-शाली था? श्रमण-जीवन की स्फुरणा और स्फूर्ति के वे मधुर क्षण आज भी हमारी स्मृति-भूमि में सुरक्षित हैं। समाज का वह जागरण, समाज की वह प्रगति और समाज का वह विकास—हम सब के लिए गौरव एवं गर्व की वस्तु था। उसकी रक्षा का दायित्व अब किस पर है? हमें दृढ़ता के साथ कहना होगा, हम सब पर है। हम आगे बढ़ें, पीछे न लौटें—यह इस्पाती संकल्प हम सब का होना चाहिए। यदि दुर्भाग्य से हम लौट गए, तो हमें पूर्व स्थान से भी शताब्दियों पीछे लौटना पड़ेगा। अतः हम हरेक कोशिश से संघटन की रक्षा करें—यही हम सब का मूल-ध्येय होना चाहिए।

समस्याएँ व्यक्ति की भी होती हैं और समाज की भी। वस्तुतः विना समस्या का जीवन एक निष्प्राण, निस्तेज और निष्क्रिय जीवन होता है। समस्याएँ दूषण नहीं हैं, भूषण हैं। समस्याएँ अभिशाप नहीं हैं, वरदान है। समस्याओं के विना न व्यक्ति आगे बढ़ सकता है और न समाज ही अपना विकास कर सकता है। समस्याओं से घबराकर हमें भागना नहीं, वल्कि मौलिक समाधान से उन्हें अपने अनुकूल वनाने की कला ही हमें सीख लेनी है। हमें जो सबसे पहले करना है, वह केवल इतना ही है, कि हम अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को समाज और संघ पर न थोपें। दोनों को सुलझाने के

दो छोर हैं—एक व्यक्ति के अपने हाथ में, और दूसरा हम सब के हाथ में। संघ का काम संघ की मर्यादा में हो, और व्यक्ति का व्यक्ति की सीमा में हो। इस सीमा-रेखा को यदि हम समझ लेंगे, तो हम देखेंगे कि हमने कितनी सुगमता से समस्याओं के महासागर को पार कर लिया है। समस्याओं से हमें भागना नहीं है, बल्कि अपने समवेत सहयोग से बदलना है। समस्याएँ न कभी मिटी हैं, और न कभी मिटेंगी। हमारी शान इसी में है, कि हम अपनी समस्याओं पर संजीदगी के साथ विचार करें। समस्याएँ उत्पन्न करने वाले भी हम हैं और उनका हल निकालने वाले भी हम ही हैं। बुद्धि के विचार से, हृदय की भावना से और मन की लगन से हम अपनी समस्याओं को क्यों नहीं सुलझा सकेंगे ?

स्नेह, सद्भावना और समादर—ये प्रत्येक मानव के मन की भूख है। एक-दूसरे के गौरव की रक्षा करना, हम सब का कर्त्तव्य होना चाहिए। मैं तरुण श्रमणों से अनुरोध करता हूँ, कि वे बड़ों की भक्ति और विनय करना सीखें। गुरुजनों की आज्ञाओं व आदेशों का पालन करना—आप सब का सहज धर्म है। अनुशासन का परिपालन करने वाला ही भविष्य में श्रेष्ठ शासक बन सकने की क्षमता रख सकता है। आपके पास नये विचार हैं, नयी स्फुरणा है और नई उमंगें हैं। यह सब सत्य है। परन्तु आप बड़ों का तिरस्कार करके अपने मनोरथों की पूर्ति का सब्ज बाग देखने की मनोवृत्ति का परित्याग कर दें। बड़ों के अनुभव से लाभ उठाने के प्रयत्न में अपनी सारी शक्ति लगा दें, इसमें आपके गौरव की अक्षुण्णता है। इसी धुरी पर घूम कर आप अपने भविष्य को शानदार बना सकेंगे। गुरुजनों को प्रसन्न करके, उनकी शिक्षाओं का समादर करके और उनसे आशीर्वाद पाकर आप फलेंगे, फूलेंगे तथा अपने जीवन-उपवन को हरा-भरा रख सकेंगे, विनय-धर्म की अवज्ञा आपकी जिन्दगी के लिए खतरा है।

मैं अपने पूज्य और आदरणीय गुरुजनों से भी प्रार्थना करता हूँ, कि वे समय की प्रगति को पहचानें। छोटों से स्नेह और प्यार से व्यवहार करें। उनकी अभिलाषाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को सुन्दर मोड़ देने का प्रयत्न करें। स्नेह और सद्भाव के साथ लघु मुनियों

की समस्याओं को सुलझाने के दायित्व को विस्मृत न होने दें। लघु मुनियों के साथ प्रेम-पूर्वक व्यवहार करने से वे आपकी आज्ञाओं का पालन अधिक वफादारी के साथ करेंगे। प्रेम से जो उन्हें सिखाया जा सकता है, वह प्रहार से नहीं। भूलें उनसे होती हैं, और होंगी। परन्तु सही दिशा की ओर संकेत करना, यह आपका दायित्व है। पिता के साथ पुत्र का विचार-भेद होना, कोई अनहोनी बात नहीं है। यह तो संसार का परम सत्य है। बुद्धिमान पिता विचार-भेद को मिटाने का भी सफल प्रयत्न कर सकता है। और नहीं, तो वह मनो-भेद को तो रोक ही सकता है। विचार-भेद भयंकर नहीं है, भयंकर है—मनोभेद। यह मनोभेद भी मिट सकता है, यदि छोटे बड़ों का विनय करें, और बड़े—छोटों का प्यार एवं दुलार करें तो।

हमें विश्वास के साथ कहना चाहिए और मानना चाहिए, कि हमारे श्रमण-संघ के अधिनायक आचार्य श्री जी और उपाचार्य श्री जी संघ की श्रद्धा और भक्ति से समर्पित, सादड़ी के विशाल जन-समूह में ग्रहण की हुई अपनी 'आचार्य - उपाचार्य' की सफेद चादर पर विघटन का दाग नहीं लगने देंगे। उनके नेतृत्व में हम सब एक हैं।

उनके साथ हमारा विचार-भेद हो सकता है, परन्तु मनोभेद नहीं होना चाहिए। अपने मत-भेदों को भूल कर दोनों महापुरुषों के अनुशासन में होकर चलना—इसी में हमारी, संघ की एवं समाज की शान है।

एक बात मैं और कह देना चाहता हूँ। हमारी विरोधी ताकतें भी हमें आगे न बढ़ने देने में पर्दे के पीछे जी-जान से प्रयत्न कर रही हैं। आलोचना के तीखे बाण, निन्दा की शूली और आक्षेपों के अणु-बम हमें मिलते ही रहे हैं, बरसते ही रहे हैं, और अभी भी बरसना बन्द भी नहीं होगा। उनके षड्यन्त्रों का कुचक्र चलता ही रहेगा। परन्तु यह निश्चित है, कि उनका आज का विरोध कल हमारा विनोद होगा। हमारा सामने का सीना और पीछे की रीढ़ विरोधी के सामने तनी रहनी चाहिए, झुकनी नहीं चाहिए। आज का भूला राही कल ठीक राह पर आ जाएगा। इसी दृष्टिकोण से हमें उन्हें नापना और देखना चाहिए।

आइए, हम सब एक-दूसरे की समस्याओं का अध्ययन, चिन्तन और मनन करें। विचार-चर्चा से एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझें। एक-दूसरे को सहयोग देने की भावना रखें। हम अन्दर में अपने-आप को मजबूत करें और बाहर में अपने-आप को विशाल, विराट् और उदात्त करें।"

—'जैन प्रकाश' में प्रकाशित

शासन कैसा हो ?

अपने गम्भीर अध्ययन और व्यापक चिन्तन के आधार पर कवि जी महाराज कहते हैं कि—"किसी भी संघ और समाज की सफलता उसके शास्ता के शासन पर अवलम्बित है।" शास्ता यदि विचार-शील है, संवेदन-शील है, अनुभवी है और देश-काल का जानने वाला है, तो अवश्य ही उसके अनुशासन में चलने वाला संघ एवं समाज विकास के पथ पर अग्रसर होगा।

श्रमण-संघ में भी एक वार यह सवाल उठाया गया था, कि 'श्रमण-संघ का शासन कैसा हो ? किन हाथों में हो ? मृदु हाथों में अथवा कठोर हाथों में ?' एक वर्ग कहता था—"शासन कठोर एवं कठिन होना चाहिए, जिससे दोष न बढ़ने पाएं।" दूसरा वर्ग कहता था—"आज का युग कठोर शासन का नहीं है। कटु, कठोर और कठिन शासन को कोई भी मानने को तैयार न होगा। कठोर शासन से कुछ काल के लिए ही कुछ शान्ति हो जाए, परन्तु अन्दर ही अन्दर विद्रोह की आग भी सुलगती रहती है।" एक लम्बे अर्से तक—'श्रमण-संघ में शासन कैसा हो ?' इस विषय पर विवाद चलता रहा। कभी-कभी तो वह विवाद काफी जोरदार और काफी गरम भी हो जाता था।

किसी भी समस्या के उलझने पर लोग कवि जी की ओर देखा करते हैं, क्योंकि कवि जी का निर्णय कभी एकांगी नहीं होता। उसके पीछे दीर्घ दृष्टि, गम्भीर विचार और गहरा चिन्तन होता है। वे किसी भी समस्या का हल जब खोजते हैं, तब उनके सामने शास्त्र-दृष्टि ही मुख्य रहती है। भले ही उसकी पृष्ठ-भूमि में इतिहास, दर्शन और मनोविज्ञान भी रहता हो। किसी समस्या पर बहुत शीघ्र

निर्णय कर लेना उनके स्वभाव में नहीं है। वे सोचते हैं—खूब सोचते हैं, तब कहीं निर्णय करते हैं।

संघ में शासन अथवा अनुशासन होना चाहिए। इस तथ्य से कवि जी का जरा-सा भी विरोध नहीं है। परन्तु शासन अथवा अनुशासन कैसा होना चाहिए? इस विषय पर उनके अपने मौलिक विचार हैं। उनका अपना चिन्तन है, अपना मनन है। संघ में स्वच्छन्दता, उच्छृंखलता और उद्दण्डता को वे कभी सहन नहीं करते। वे स्वयं भी शासन में रहना चाहते हैं, और दूसरों को भी शासन में देखना चाहते हैं। यदि संघ में किसी प्रकार का अनुशासन नहीं रहेगा, तो वह संघ अधिक जीवित नहीं रह सकेगा। संघ की मर्यादा के लिए और व्यक्ति के स्वयं विकास के लिए भी कवि जी अनुशासन का प्रवल समर्थन करते हैं—एक वार नहीं, अनेकों वार किया भी है। अनुशासन के परिपालन में वे अपने-पराये का और छोटे-वड़े का भेद स्वीकार नहीं करते। अनुशासन का पालन उभयतोमुखी होना चाहिए—छोटों की ओर से भी और वड़ों की ओर से भी। अनुशासन के पालन की जितनी अपेक्षा छोटों से रखी जाती है, वड़ों से भी उतनी ही रखी जानी चाहिए। अपने इसी सिद्धान्त के अनुसार भीनासर सम्मेलन में भावना-हीन, साथ ही विवेक-शून्य अनुशासन का नारा लगाने वाले एक अधिकारी व्यक्ति की उन्होंने खुल कर आलोचना की थी।

कवि जी महाराज के शासन अथवा अनुशासन के विपय में क्या विचार हैं? इस सम्वन्ध में, मैं यहाँ पर उनके एक प्रवचन का कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ। जिसको पढ़कर पाठक उनके उस विषय में मननीय विचारों को जान सकेंगे। यह प्रवचन भीनासर सम्मेलन के वाद का है, और श्री विनयचन्द भाई की प्रेरणा से दिया गया था। यह प्रवचन 'जैन प्रकाश' में प्रकाशित हो चुका है—

"सचेतन जगत् में मनुष्य वुद्धिमान् एवं विचारशील प्राणी है। पशु-जगत् और पक्षी-जगत् आज भी वैसा ही अविकसित है, जैसा कि आज से हजारों एवं लाखों वर्षों पूर्व प्रागैतिहासिक काल में था। ऊपर में देव-लोक और नीचे में नरक-लोक भी ज्यों का त्यों ही है।

विकास यदि कहीं पर हुआ है, तो मानव जगत् में ? इस परम सत्य को इतिहास का एक सामान्य छात्र भी भली-भाँति समझ सकता है, कि वनों में वन-फलों पर निर्भर रहने वाले उस प्रागैतिहासिक मनुष्य में, और आज के इस अणु युग के मनुष्य में कितना अन्तर्भेद है ?

मनुष्य ने अपने रहने-सहने की पद्धति मात्र ही नहीं बदली, परन्तु उसने अपनी सभ्यता और संस्कृति में भी विशेष विकास किया है। अशन, वसन और भोजन के साधनों के परावर्त को ही मैं विकास नहीं मानता। मेरे विचार में मनुष्य जगत् में सबसे बड़ी क्रान्ति, सबसे बड़ा विकास यह है, कि मनुष्य व्यक्ति से परिवार में, परिवार से समाज में और समाज से राष्ट्र में बदलता रहा और आज के अणु युग से संत्रस्त मनुष्य अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की सुरक्षा के लिए विश्व-परिवार, विश्व-समाज और विश्व-राष्ट्र का सुनहरा का स्वप्न ले रहा है। मनुष्य के मनुष्यत्व के विकास का यही एक आशा-पूर्ण पहलू है।

मानव-जाति के अब तक के विकास को मैं चार विभागों में विभक्त करके अपने विषय को स्पष्टतर कर लेना चाहता हूँ।

विशाल मानव-जाति के विकास का प्रथम चरण वह है, जिसमें बिखरा व्यक्ति, परिवार के रूप में संयुक्त होकर अपने सुख-दुःख को बाँटना सीखा।

मानव के विकास का द्वितीय चरण वह है, जब बिखरे परिवार भी मिलकर उठ-बैठने लगे, जंगम से स्थावर, अर्थात् स्थितिशील होकर ग्राम और नगरों की रचना की।

मानवीय जीवन के विकास का तृतीय चरण वह है, जिसमें मनुष्य राष्ट्रों के रूप में समवेत होकर सोचने और विचारने लगा। सबल से निर्बल की रक्षा के लिए राजनीति का प्रारम्भ हो गया। राज्य का सर्वोच्च व्यक्ति राजा कहा गया। लोक-मर्यादा के स्थिरीकरण के लिए तथा समाज और देश में व्यवस्था स्थापित करने के लिए राजा को नेता के रूप मे स्वीकृत कर लिया गया। वह अबलों का बल, अनाथों का नाथ और अरक्षितों का रक्षक बना।

मनुष्य के वहिर्मुखी जीवन का यही चरम विकास है। परन्तु, यह भूलने की बात नहीं है, कि मानव-जीवन का एक दूसरा भी पक्ष है, जिसे हम अन्तर्मुखी जीवन कह सकते हैं। भोग के चरम विकास में से ही योग का प्रादुर्भाव होता है। मनुष्य वहिर्मुखी से अन्तर्मुखी वना। वह फिर ग्राम-नगरों के कोलाहल से व्याकुल होकर प्रकृति माता की एकान्त एवं शान्त गोद में अपने अन्तःसुख की शोध में निकल पड़ा। अन्तःसुख की शोध में, तपने वाली इन हुतात्माओं को शास्त्र की भाषा में साधक, भिक्षु और तपस्वी कहा गया। ऋषभदेव से लेकर अन्तिम वर्धमान महावीर ने मानव-जगत् को एक नया विचार एवं नया दृष्टिकोण दिया—"जो कुछ भी पाना है, उसे अपने अन्तर में खोजो।" यह अनुभव-प्रसूत पवित्र वाणी हजारों-हजार और लाखों-लाख साधकों के लिए सर्च-लाइट वन गई।

साधक भी सव समान नहीं होते। दुर्बलता मनुष्य का वहुत देर तक और साथ ही वहुत दूर तक भी पीछा करती रहती है। दुर्वल साधकों को सम्वल देने के लिए 'संघ' का निर्माण हुआ। मानव-जाति के विकास के इतिहास का यह चतुर्थ चरण था। संघ का अर्थ है—अध्यात्म-साधना करने वाले पवित्र व्यक्तियों का एक समाज, एक वर्ग-विशेष।

संघ में सभी प्रकार के साधक आते थे। लघु भी, महान् भी, छोटे भी, वड़े भी, सवल भी, निर्वल भी। वहुश्रुत भी, अल्पज्ञ भी। संघ में मर्यादा, व्यवस्था और सन्तुलन रखने के लिए एक नेता की आवश्यकता पड़ी, जो संघ को सही दिशा में एवं सुमार्ग पर ले जा सके। संघ-नेता को शास्त्रीय परिभाषा में आचार्य कहा गया। आचार्य संघ का नेता बना, शास्ता वना, पथ-प्रदर्शक वना।

राजनीतिक शासन की अपेक्षा धर्म-शासन में एक भिन्न प्रकार की शासन-बद्धता रहती है, जिसका आधार कठोरता नहीं, कोमलता है। जिसका आधार विचारों का दमन नहीं, अपितु दुर्वृत्तियों का शमन है। संघ का शास्ता-आचार्य शासन अवश्य करता है, पर कव ? जव कि सामान्य साधक साधना-पथ पर चलता हुआ लड़खड़ाने लगे, तव ! दुर्वल साधकों के लिए ही आचार्य के शासन की आवश्यकता

रहती है। शासक, शासक भले राजनीति का हो अथवा धर्म का, वह मनुष्य की दुर्बलताओं का एक प्रतीक है। मनुष्य की अपनी दुर्बलताओं से ही शासन का उद्भव होता है।

आगमों में देवों का वर्णन विस्तार से वर्णित है। आगमों के पाठक और आगमों के श्रोता इसे स्पष्ट रूपेण जानते हैं, कि भवनपति देवों तथा व्यन्तर देवों पर शासन करने के लिए बहुत-से इन्द्र बताए गए हैं, उनकी उच्छृंखल एवं कौतुहल-प्रिय मनोवृति पर कन्ट्रोल करने के लिए ही इन्द्रों की इतनी बड़ी संख्या है। परन्तु जब हम ऊपर के देवों का वर्णन पढ़ते हैं, तब वहाँ इन्द्रों की संख्या घटती जाती है। बारहवें देव-लोक के ऊपर तो इन्द्र पद की व्यवस्था ही नहीं है। कारण स्पष्ट है, कि वहाँ के सभी देव अहमिन्द्र होते हैं। वे स्वयं ही अपने इन्द्र होते हैं, स्वयं ही अपने शास्ता हैं। उनमें किसी भी प्रकार का द्वन्द्व या संघर्ष नहीं होता। वे अपना संचालन स्वयं अपने आप ही करते रहते हैं।

इस वर्णन से जीवन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त ध्वनित होता है। मनुष्य जब जीवन की उच्च भूमिका पर पहुँच जाता है, तब उसके जीवन को नियंत्रित रखने के लिए किसी शासन की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह स्वयं अपना शासक होता है।

आगमों में जिन-कल्प और स्थविर-कल्प का वर्णन भी बहुत ही रहस्यपूर्ण है। स्थविर-कल्पी भिक्षुओं के जीवन में कुछ दुर्बलताएँ होती हैं, इससे शासन-व्यवस्था को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए इस परम्परा में आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तक आदि धर्म-शास्ताओं की व्यवस्था की गयी है। परन्तु जिन-कल्पी भिक्षु के लिए किसी प्रकार की शासन-व्यवस्था नहीं होती। वे अपने-आप पर अपना स्वयं का शासन रखते हैं। जो प्रबुद्ध साधक हैं, उनके लिए आचार्य के नेतृत्व की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे अपने साधना-पथ में बड़ी-बड़ी चट्टानों को तोड़कर अपने गन्तव्य त्याग-मार्ग को प्रशस्त बनाने की क्षमता रखते हैं। इस प्रकार के सजग और सतेज साधक आपदाओं की तूफानी लहरों में बहकर दुःख के सागर में कभी डूबते नहीं और सुख के हिमगिरि पर चढ़कर कभी इठलाते नहीं।

स्थविर-कल्पी भिक्षु में इतनी शक्ति प्रकट नहीं हो पाती, कि वह निरालम्ब होकर अपनी जीवन-यात्रा का संचालन स्वयं कर सके। उसे सहयोगी की आवश्यकता रहती है। विकट परिस्थिति में जव वह लड़खड़ाने लगता है, तव मार्ग-दर्शक के रूप में उसे भी आचार्य की आवश्यकता रहती है। विधि और निषेध तथा उत्सर्ग और अपवाद के मर्मज्ञ आचार्य का नेतृत्व उसकी उलझी उलझनों को सहज में ही सुलझा देता है। इसी अर्थ में आचार्य—संघ का नेता, संघ का निर्देशक माना जाता है।

जिस समाज में, जिस सम्प्रदाय में और जिस राष्ट्र में संघर्ष अधिक होते हैं, मतभेद अधिक होते हैं और विद्रोह अधिक होते हैं—जहाँ पर सदा युद्ध, फाँसी का तख्ता एवं कानून के डंडे घूमते रहते हैं, तो वह समाज, सम्प्रदाय और राष्ट्र आदर्श नहीं कहा जा सकता। वहाँ का मनुष्य—मनुष्य नहीं, पशु है। पशु विना डंडे के कोई भी काम नहीं करता। पशु को वाड़े में वन्द करना पड़े, तव भी डंडा चाहिए, और वाहर निकालने पर तो डंडा चाहिए ही। पशु विना डंडे के राहे-रास्त पर नहीं आता, परन्तु मनुष्य के सम्बन्ध यह सोचना गलत होगा। मनुष्य के लिए केवल संकेत ही पर्याप्त होता है, क्योंकि वह एक बुद्धिमान प्राणी है। वुद्धि और विवेक का प्रकाश उसे मिला है। मनुष्यों में भी आत्म-साधक मनुष्य पर शासन केवल दिशा-सूचना भर को ही रहना चाहिए। आखिर, जो साधक है, उस पर विश्वास करना ही होगा।

जैन-संस्कृति में आत्म-स्वातन्त्र्य की भावना को वड़ा वल दिया गया है। जैन-संस्कृति का मूल स्वर शासन तथा नेता को, भले ही वह समाज का हो या संघ का, सदा सर्वदा चुनौती देता रहा है। वह सैद्धान्तिक रूप से शासन-निरपेक्ष स्वतन्त्र जीवन पद्धति को महत्त्व देता रहा है। इसका अभिप्राय यह नहीं है, कि जैन-संस्कृति स्वच्छ-न्दता का प्रसार करना चाहती है। साधक स्वतन्त्र तो रहे, परन्तु स्वच्छन्द न वन जाए। वस, इसीलिए संघ-नेता आचार्य के देख-रेख की आवश्यकता होती है।

संघ-नेता आचार्य का शासन कैसा होना चाहिए? यह प्रश्न भी एक गम्भीरतम प्रश्न है। कुछ विचारक कहते हैं, आचार्य को

कठोर होकर रहना चाहिए। जव तक आचार्य का रौव न पड़ेगा, तव तक वह शासन करने में सफल नहीं हो सकता। परन्तु यह एक भ्रान्त विचारणा है, मिथ्या विचार है। आचार्य का शासन मधुर और मृदु होना चाहिए। प्रेम, स्नेह और सद्भाव के वल से ही आचार्य संघ का सफल नेतृत्व कर सकता है। जैन-संस्कृति में आचार्य मधुर शासन का प्रतीक माना गया है।

मेरे विचार में शासन—फूलों की माला है। ऐसे फूलों की, जिसमें धागा तो है, परन्तु वह फूलों के सौन्दर्य में ढक गया है। वस्तुतः इसी में फूल-माला का मूल्य है। धागा प्रत्येक फूल में अनुस्यूत होता है, उसी से माला वनी रहती है, परन्तु वह धागा वाहर में दीखता नहीं है। इसी प्रकार आचार्य का शासन भी माला के सूत्र के समान होना चाहिए, जिसमें संघ का सौन्दर्य भी निखर सके, और संघ की एकता भी वनी रह सके। संघ में आचार्य का शासन रहे अवश्य, परन्तु वह पारस्परिक स्नेह-सद्भाव के फूलों के नीचे ढका रहे। ऐसा न हो, फूलों को तोड़-मरोड़ कर या एक किनारे ढकेल कर शासन-सूत्र ऊपर निकल आए।

जैन-संस्कृति में आचार्य, एक मधुर शासक माना गया है। आचार्य यदि दक्ष है, देश-काल का ज्ञाता है, शासन करने में मधुर है, तो वह संघ को विकास के मार्ग पर ले जा सकता है। संघ कैसी और कितनी प्रगति कर रहा है? इस सव का दायित्व आचार्य पर ही होता है। जिस शासक के शासन में वार-वार विद्रोह, विक्षोभ और असन्तोष का वातावरण होता है, वह सफल शासक नहीं कहा जा सकता।

आचार्य के सम्वन्ध में भी यही सत्य लागू पड़ता है। संघ का विकास, संघ की प्रगति—इन सव का मूलाधार आचार्य का शासन ही है। आचार्य का शासन यदि मधुर, कोमल एवं सद्भाव पूर्ण होता है, तो वहाँ विद्रोह और विक्षोभ को जरा भी अवसर नहीं मिलता। संघ में सर्वत्र शान्ति और सन्तोष ही रहता है।"

समन्वयवादी व्यक्तित्व :

कवि जी का व्यक्तित्व समन्वयवादी है। विरोध में समन्वय ढूँढना, उनके व्यक्तित्व की सहज वृत्ति है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र

में कवि जी का व्यक्तित्व समन्वय खोजता है। कवि जी का समन्वय का भाव अद्वितीय है। अपनी अद्‌भुत समन्वयता के कारण ही कवि जी का व्यक्तित्व सर्वतोमुखी हो उठा है। स्वयं कवि जी, समन्वय के ज्वलन्त प्रतीक हैं। सन्त, कवि और विचारक—इन तीनों का यदि कहीं संगम देखने को मिल सकता है, तो केवल वह कवि जी के व्यक्तित्व में। सब से पहले वे सन्त हैं—साधक हैं। साधकता की पृष्ठ-भूमि में से ही उनका कवित्व मुखरित होता है। मधुर कवित्व में से उनका प्रखर दार्शनिकत्व प्रकट होकर आया है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति सन्त, कवि और विचारक—कवि जी स्वयं साकार समन्वय हैं।

कवि जी का साहित्य किसी एक वर्ग-विशेष का नहीं, समूचे जैन-समाज का साहित्य है, बल्कि उसमें सम्पूर्ण भारत की आत्मा बोलती है, क्योंकि उनकी प्रतिभा समन्वयात्मक है। जैन-साहित्य संसार में यदि कवि जी को दैदिप्यमान सूर्य कहा जाता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं है। कवि जी अपने युग के प्रमुख समन्वयवादी नेता हैं। उन्होंने अपने युग के समाज, धर्म, दर्शन और साहित्य का गम्भीर चिन्तन एवं मनन किया है। यही कारण है, कि उनके कर्म में, उनकी वाणी में और उनके विचार में समन्वय उभर-उभर कर आया है। कवि जी ने अपने समय की सभी सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का समन्वय समय-समय पर अपनी कृतियों में अभिव्यक्त किया है।

कवि जी के जीवन में तीन प्रकार का समन्वय परिलक्षित होता है—

१. धार्मिक समन्वय
२. साहित्यिक समन्वय
३. सामाजिक समन्वय

धार्मिक समन्वय—कवि जी ने भारत और भारत से बाहर विदेशों के अनेक धर्मो का गम्भीर अध्ययन किया है। वे किसी भी धर्म का अनादर नहीं करते। जैन-धर्म, जैन-संस्कृति और जैन-दर्शन में उनकी अटूट निष्ठा होने पर भी अन्य धर्मों के प्रति वे बहुत सहिष्णु रहते हैं।

पर-मत सहिष्णुता उनके व्यक्तित्व का सहज गुण है। वे अपने सिद्धान्तों की गम्भीर से गम्भीर व्याख्या करते हैं। अपनी बात को खुलकर कहते हैं। पर दूसरों के सिद्धान्तों का तिरस्कार और अपमान कभी नहीं करते? जैन परम्परा के महापुरुषों का और आचार्यों का वे बड़े गौरव के साथ अपने भाषणों में और अपने लेखों में उल्लेख करते हैं। परन्तु दूसरी परम्परा के महापुरुषों और आचार्यों का कथन भी जब कभी वे करते हैं, तब बड़े आदर के साथ करते हैं।

कवि जी की कविताओं में, लेखों में और प्रवचनों में आप यत्र-तत्र-सर्वत्र समन्वय-भावना पा सकेंगे। जैन-धर्म के प्रति उनके मन में अडिग श्रद्धा और अचल आस्था होने पर भी वैदिक-धर्म और बौद्ध-धर्म के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सर्वथा समन्वयात्मक रहा है, और रहेगा। कवि जी की समन्वयवादी विचार-धारा आज की नहीं, वह अतीत में भी थी, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगी, क्योंकि समन्वय कवि जी के व्यक्तित्व का मूल स्वभाव है।

लोग प्रायः पूछा करते हैं, कि कवि जी इतने उग्र समन्वयवादी क्यों हैं? उक्त प्रश्न का सीधा-सादा समाधान यही है, कि जैन-धर्म अनेकान्तवादी दर्शन है। जो अनेकान्तवादी होगा, वह अवश्य ही समन्वयवादी भी होगा ही। समन्वय एकान्तवाद में नहीं, अनेकान्तवाद में ही सम्भवित हो सकता है। एकान्तवादी व्यक्ति सदा आग्रह-शील रहता है। अतः वह अपने जीवन में किसी भी प्रकार के समन्वय को पसन्द नहीं कर सकता। इसके विपरीत अनेकान्तवादी बिना समन्वय के रह ही नहीं सकता। यदि हमें अनेकान्तवाद को जीवित रखना है, तो समन्वय-भावना को स्वीकार करना ही पड़ेगा। कवि जी की समन्वय वृत्ति इसी अनेकान्त-दृष्टि में से प्रकट हुई है। क्योंकि वे अनेकान्तवादी हैं, इसीलिए वे समन्वयवादी हैं।

समन्वय का अर्थ यह नहीं है, कि जगती-तल के समस्त धर्म मिटकर एक हो जाएँगे। समन्वय का अर्थ इतना ही है, कि धर्म के नाम पर—वैर, विरोध, विग्रह, कलह और संघर्ष न हों। हम एक-दूसरे को बुरा न समझें। धर्म तो समता का नाम है। निश्चय ही विषमता, धर्म नहीं हो सकता। धर्मो का परस्पर जो विग्रह है, वह धर्म

का विकार है। विकार को नष्ट करना ही वास्तविक धर्म है। धर्मों का विग्रह और कलह विना समन्वय के कभी नष्ट नहीं किया जा सकता।

कवि जी का धार्मिक समन्वय कैसा है? वे कैसा समन्वय चाहते हैं? उक्त प्रश्नों का समाधान पाने के लिए मैं यहाँ पर कवि जी महाराज का एक प्रवचन उद्धृत कर रहा हूँ, जिससे पाठक यह समझ सकें, कि कवि जी कैसा समन्वय चाहते हैं और उनके समन्वय का क्या स्वरूप है—

"धर्म क्या है? सत्य की जिज्ञासा, सत्य की साधना, सत्य का सन्धान। सत्य मानव-जीवन का परम सार तत्त्व है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में भागवत प्रवचन है—"सच्चं खु भगवं।" सत्य साक्षात् भगवान् है। सत्य अनन्त है, अपरिमित है। उसे परिमित कहना, सीमित करना एक भूल है। सत्य को बाँधने की चेष्टा करना, संघर्ष को जन्म देना है। विवाद को खड़ा करना है। सत्य की उपासना करना धर्म है और सत्य को अपने तक ही सीमित बाँध रखना अधर्म है। पंथ और धर्म में आकाश-पाताल जैसा विराट् अन्तर है। पंथ परिमित है, सत्य अनन्त है। "मेरा सो सच्चा"—यह पंथ की दृष्टि है। "सच्चा सो मेरा"—यह सत्य की दृष्टि है। पंथ कभी विष-रूप भी हो सकता है, सत्य सदा अमृत ही रहता है।

अपने युग के महान् धर्म-वेत्ता, महान् दार्शनिक—आचार्य हरिभद्र से एक बार पूछा गया—"इस विराट् विश्व में धर्म अनेक हैं, पंथ नाना हैं और विचारधारा भिन्न-भिन्न हैं। "नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।" प्रत्येक मुनि का विचार अलग है, धारणा पृथक् है, और मान्यता भिन्न है। कपिल का योग-मार्ग है, व्यास का वेदान्त-विचार है, जैमिनी कर्म-काण्डवादी है, सांख्य ज्ञानवादी है—सभी के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। कौन सच्चा, कौन झूठा? कौन सत्य के निकट है, और कौन सत्य से दूर है? सत्य धर्म का आराधक कौन है, और सत्य धर्म का विराधक कौन है?

समन्वयवाद के मर्म-वेत्ता आचार्य ने कहा—"चिन्ता की बात क्या? जौहरी के पास अनेक रत्न बिखरे पड़े रहते हैं। उसके पास यदि खरे-खोटे की परख के लिए कसौटी है, तो भय-चिन्ता की बात नहीं। जन-जीवन के परम पारखी परम प्रभु महावीर ने हम को परखने की

कसौटी दी है, कला दी है। धर्म कितने भी हों, पंथ कितने भी हों, विचार कितने भी हों, वाहर में प्रचारित सत्य कितने भी क्यों न हों ? भय और खतरे जैसी कोई वात नहीं। सव को कसौटी पर परखिए, जाँचिए। वह कसौटी क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य ने कहा—समन्वय-दृष्टि, विचार-पद्धति, अपेक्षावाद, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद ही वह कसौटी है जिस पर खरा, खरा ही रहेगा और खोटा, खोटा ही रहेगा।

जिन्दगी की राह में फूल भी हैं, और काँटे भी ! फूलों को चुनते चलो, और काँटों को छोड़ते चलो। सत्य का संचय करते रहो—जहाँ भी मिले, और असत्य का परित्याग करते रहो, भले ही वह अपना ही क्यों न हो ? विष यदि अपना है, तो भी मारक है और अमृत यदि पराया है, तो भी तारक है। आचार्य हरिभद्र के शब्दों में कहूँ तो कहना होगा—

"युक्तिमद् वचनं यस्य,
तस्य कार्यः परिग्रहः।"

जिसकी वाणी में सत्यामृत हो, जिसका वचन युक्ति-युक्त हो, उसके संचय में कभी संकोच मत करो। सत्य जहाँ भी हो, वहाँ सर्वत्र जैन-धर्म रहता ही है। वस्तुतः सत्य एक ही है। भले वह वैदिक परम्परा में मिले, वौद्ध-धारा में मिले या जैन-धर्म में मिले। प्रत्येक दार्शनिक परम्परा भिन्न-भिन्न देश, काल और परिस्थिति में सत्य को अंश में, खण्ड रूप में ग्रहण करके चली हैं। पूर्ण सत्य तो केवल एक केवली ही जान सकता है। अल्पज्ञ तो वस्तु को अंश रूप में ही ग्रहण कर सकता है। फिर यह दावा कैसे सच्चा हो सकता है, कि मैं जो कहता हूँ, वह सत्य ही है, और दूसरे सव झूठे हैं ? वैदिक धर्म में व्यवहार मुख्य है, वौद्ध धर्म श्रवण-प्रधान है, और जैन-धर्म आचार-लक्षी है। वैदिक परम्परा में कर्म, उपासना और ज्ञान को मोक्ष का कारण माना है, वौद्ध धारा में शील, समाधि और प्रज्ञा को सिद्धि का साधन कहा है, और जैन संस्कृति में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मुक्ति-हेतु कहा गया है। परन्तु सवका ध्येय एक ही है—सत्य को प्राप्त करना।

जिस प्रकार सरल और वक्र मार्ग से प्रवाहित होने वाली भिन्न-भिन्न नदियाँ अन्त में एक ही महासागर में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न रुचियों के कारण उद्भव होने वाले समस्त दर्शन एक ही अखण्ड सत्य में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। उपाध्याय यशोविजय भी इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण को लेकर अपने ग्रन्थ 'ज्ञान-सार' में एक परम सत्य का संदर्शन कराते हुए कहते हैं—

"विभिन्ना अपि पन्थानः,
समुद्रं सरितामिव ।
मध्यस्थानां परं ब्रह्म,
प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥"

हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था, कि जो समन्वयवादी हैं, वे सर्वत्र सत्य को देखते हैं। एकत्व में अनेकत्व देखना और अनेकत्व में एकत्व देखना—यही समन्वयवाद है, स्याद्वाद सिद्धान्त है, विचार-पद्धति है, अनेकान्त-दृष्टि है। वस्तु-तत्त्व के निर्णय में मध्यस्थ-भाव रख कर ही चलना चाहिए। मताग्रह से कभी सत्य का निर्णय नहीं हो सकता। समन्वय-दृष्टि मिल जाने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा कोटि परिमित शास्त्रों के आरटन से भी कोई लाभ नहीं। स्याद्वादी व्यक्ति सहिष्णु होता है। वह राग-द्वेष की आग में झुलसता नहीं, सब धर्मों के सत्य तत्त्व को आदर भावना से देखता है। विरोधों को सदा उपशमित करता रहता है। उपाध्याय यशोविजय जी कहते हैं—

"स्वागमं रागमात्रेण,
द्वेषमात्रात् परागमम् ।
न श्रयामस्त्यजामो वा,
किन्तु मध्यस्थया दृशा ।"

हम अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का—यदि वे बुरे हों, तो इसलिए आदर नहीं करेंगे, कि वे हमारे हैं। दूसरों के सिद्धान्त—यदि वे निर्दोष हों, तो इसलिए परित्याग नहीं करेंगे कि वे दूसरों के हैं। समभाव और सहिष्णुता की दृष्टि से, जो भी तत्त्व जीवन-मंगल के लिए उपयोगी होगा, उसे सहर्ष स्वीकार करेंगे और जो उपयोगी नहीं है, उसे छोड़ने में जरा

भी संकोच नहीं करेंगे। अनेकान्तवादी अपने जीवन व्यवहार में सदा 'भी' को महत्त्व देता है, 'ही' को नहीं। क्योंकि 'ही' में संघर्ष है, वाद-विवाद है। 'भी' में समाधान है, सत्य का सन्धान है, सत्य की जिज्ञासा है।

मैं आपसे कह रहा था, कि जैन-दर्शन की संधारणा के अनुसार सत्य सबका एक है—यदि वह अपने आप में वस्तुतः सत्य हो, तो? विश्व के समस्त दर्शन, समग्र विचार-पद्धतियाँ जैन-दर्शन के नयवाद में विलीन हो जाती हैं। ऋजुसूत्र नय में बौद्ध-दर्शन, संग्रह नय में वेदान्त, नैगम नय में न्याय-वैशेषिक, शब्द नय में व्याकरण और व्यवहार नय में चार्वाक-दर्शन अन्तर्भुक्त हो जाता है। जिस प्रकार रंग-विरंगे फूलों को एक सूत्र में गूँथने पर एक मनोहर माला तैयार हो जाती है, वैसे ही समस्त दर्शनों के सम्मिलन में से जैन-दर्शन प्रकट हो जाता है। सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से विद्वेष नहीं करता, क्योंकि वह सम्पूर्ण नय-रूप दर्शनों को वात्सल्य भरी दृष्टि से देखता है, जैसे एक पिता अपने समस्त पुत्रों को स्नेहमयी दृष्टि से देखता है। इसी भावना को लेकर अध्यात्मवादी सन्त आनन्दघन ने कहा है—

षड् दरसण जिन अंग भणीजे,
न्याय षडंग जो साधे रे।
'नमि' जिनवरना चरण उपासक,
षड् दर्शन आराधे रे।"

अध्यात्म योगी सन्त आनन्दघन ने अपने युग के उन लोगों को करारी फटकार बताई है, जो गच्छवाद का पोषण करते थे, पंथ-प्रणाली को प्रेरणा देते थे और मत-भेद के कटु बीज बोते थे। फिर भी, जो अपने आप को सन्त और साधक कहने में अमित-गर्व अनुभव करते थे। 'ही' के सिद्धान्त में विश्वास रखकर भी जो 'भी' के सिद्धान्त का सुन्दर उपदेश झाड़ते थे। आनन्दघन ने स्पष्ट भाषा में कहा—

"गच्छना भेद बहु नयणे निहालतां,
तत्त्व नी वात करतां न लाजे।
उदर भरणादि निज काज करतां थकां,
मोह नडीआ कलिकाल राजे॥"

मैं आप से कह रहा था, कि जब तक जीवन में अनेकान्त का वसन्त नहीं आता, तब तक जीवन हरा-भरा नहीं हो सकता। उसमें समता के पुष्प नहीं खिल सकते। सम-भाव, सर्व-धर्म-समता, स्याद्वाद और अनेकान्त केवल वाणी में ही नहीं, बल्कि जीवन के उपवन में ही उतरना चाहिए। तभी धर्म की आराधना और सत्य की साधना की जा सकती है।

अभी तक मैं समन्वयवाद की, स्याद्वाद की और अनेकान्त-दृष्टि की शास्त्रीय व्याख्या कर रहा था। परन्तु अब अनेकान्त-दृष्टि की व्यावहारिक व्याख्या भी करनी होगी। क्योंकि अनेकान्त या स्याद्वाद केवल सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि जीवन के क्षेत्र में एक मधुर प्रयोग भी है। विचार और व्यवहार—जीवन के दोनों क्षेत्रों में इस सिद्धान्त की समान रूप से प्रतिष्ठापना है। स्याद्वाद या अनेकान्त क्या है? इस प्रश्न का व्यावहारिक समाधान भी करना होगा और आचार्यों ने वैसा प्रयत्न किया भी है।

शिष्य ने आचार्य से पूछा—"भगवन्, जिन-वाणी का सारभूत तत्त्व—यह अनेकान्त और स्याद्वाद क्या है? इसका मानव-जीवन में क्या उपयोग है?" शिष्य की जिज्ञासा ने आचार्य के शान्त मानस में एक हल्का-सा कम्पन पैदा कर दिया। परन्तु कुछ क्षणों तक आचार्य इसलिए मौन रहे, कि उस महासिद्धान्त को इस लघुमति शिष्य के मन में कैसे उतारूँ? आखिर आचार्य ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से, स्थूल जगत् के माध्यम से स्याद्वाद की व्याख्या प्रारंभ की। आचार्य ने अपना एक हाथ खड़ा किया, और कनिष्ठा तथा अनामिका अँगुलियो को शिष्य के सम्मुख करते हुए आचार्य ने पूछा—"बोलो, दोनों में छोटी कौन और बड़ी कौन?" शिष्य ने तपाक से कहा—"अनामिका बड़ी है, और कनिष्ठा छोटी।" आचार्य ने अपनी कनिष्ठा अंगुली समेट ली और मध्यमा को प्रसारित करके शिष्य से पूछा—"बोलो, तो अब कौन छोटी, और कौन बड़ी?" शिष्य ने सहज भाव से कहा—"अब अनामिका छोटी है, और मध्यमा बड़ी।" आचार्य ने मुस्कान के साथ कहा—"वत्स, यही तो स्याद्वाद है।" अपेक्षा भेद से जैसे एक ही अंगुली कभी बड़ी और कभी छोटी हो सकती है, वैसे ही अनेक धर्मात्मक एक ही वस्तु में कभी किसी धर्म की मुख्यता रहती है, कभी उसकी गौणता हो जाती

है। जैसे आत्मा को ही लो ! यह नित्य भी है, और अनित्य भी। द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य। व्यवहार में यह जो अपेक्षावाद है, वही वस्तुतः स्याद्वाद और अनेकान्तवाद है। वस्तु-तत्त्व को समझने का एक दृष्टिकोण-विशेष है। विचार-प्रकाशन की एक शैली है, विचार-प्रकटीकरण की एक पद्धति है।

समन्वयवाद, स्याद्वाद और अनेकान्त-दृष्टि के मूल बीज आगमों में, वीतराग वाणी में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। परन्तु, स्याद्वाद के विशद् और व्यवस्थित व्याख्याकारों में सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलंक देव, यशोविजय और माणिक्य नन्दी मुख्य हैं, जिन्होंने स्याद्वाद को विराट् रूप दिया, महासिद्धान्त बना दिया। उसकी मूल भावना को अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित किया। उसकी युग-स्पर्शी व्याख्या करके उसे मानव जीवन का उपयोगी सिद्धान्त बना दिया।

स्याद्वाद के समर्थ व्याख्याकार आचार्यों के समक्ष जब विरोधी पक्ष की ओर से यह प्रश्न आया, कि—"एक ही वस्तु में एक साथ—उत्पत्ति, क्षति और स्थिति कैसे घटित हो सकती है ?" तब समन्वय-वादी आचार्यों ने एक स्वर में, एक भावना में यों कहा, यह समाधान किया—

"तीन मित्र बाजार में गए। एक सोने का कलश लेने, दूसरा सोने का ताज लेने, और तीसरा खालिस सोना लेने। देखा, उन तीनों साथियों ने, एक सुनार अपनी दूकान पर बैठा सोने के कलश को तोड़ रहा है। पूछा—इसे क्यों तोड़ रहे हो ? जवाब मिला—इसका ताज बनाना है। एक ही स्वर्ण-वस्तु में कलशार्थी ने 'क्षति' देखी, ताजार्थी ने 'उत्पत्ति' देखी और शुद्ध स्वर्णार्थी ने 'स्थिति' देखी। प्रत्येक वस्तु में प्रतिपल—उत्पत्ति, क्षति और स्थिति—चलती रहती है। पर्याय की अपेक्षा से 'उत्पत्ति' और 'क्षति' तथा द्रव्य की अपेक्षा से 'स्थिति' बनी रहती है। इस प्रकार एक ही वस्तु में तीनों धर्म रह सकते हैं, उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। स्याद्वाद वस्तु-गत अनेक धर्मों में समन्वय साधता है, संगति करता है। विरोधों का अपेक्षा-भेद से समाधान करता है।

स्याद्वादी आचार्यो का कथन है, कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। एक वस्तु में अनेक धर्म हैं, अनन्त धर्म हैं। किसी भी वस्तु का परिबोध करने में नय और प्रमाण की अपेक्षा रहती है। वस्तुगत किसी एक धर्म का परिबोध नय से होता है, और वस्तु-गत अनेक धर्मो का एक साथ परिबोध करना हो, तो प्रमाण से होता है। किसी भी वस्तु का परिज्ञान नय और प्रमाण के बिना नहीं हो सकता। स्याद्वाद को समझने के लिए, नय और प्रमाण के स्वरूप को समझना भी आवश्यक है।

मैं आपसे कह रहा था, कि स्याद्वाद, समन्वयवाद और अपेक्षा-वाद अनेकान्त-दृष्टि—जैन-दर्शन का हृदय है। विश्व को एक अनुपम और मौलिक देन है। मत-भेद, मताग्रह और वाद-विवाद को मिटाने में अनेकान्त एक न्यायाधीश के समान है। विचार-क्षेत्र में, जिसे अनेकान्त कहा है, व्यवहार क्षेत्र में वह अहिंसा है। इस प्रकार—"आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त"—यह जैन-धर्म की विशेषता है। क्या ही अच्छा होता, यदि आज का मानव इस अनेकान्त-दृष्टि को अपने जीवन में, परिवार में, समाज में और राष्ट्र में ढाल पाता, उतार पाता ?"

—अमर-भारती

साहित्यिक समन्वय—कवि जी का साहित्यिक समन्वय बहुत ही विस्तृत है। उन्होंने अपने समय की विभिन्न शैलियों में और विभिन्न विचारों में समन्वय साधने का पूरा प्रयत्न किया है। उनके साहित्य के विविध रूप हैं—गद्य एवं पद्य। कविता और काव्य। लेख और प्रवचन। व्याख्या और टिप्पण। भूमिकाएँ और कहानियाँ। सर्वत्र आपको समन्वय वृत्ति के दर्शन होंगे। इस विषय में यहाँ पर विशेष न लिखकर 'साहित्य-साधना' अथवा 'कवि जी का कृतित्व' प्रकरण में विशेष लिखा जाएगा।

स्थानकवासी जैन-कान्फ्रेंस की ओर से अनेक वर्षो से यह प्रयत्न चला आ रहा था, कि कवि जी से समस्त आगम-वाङ्मय का सम्पादन कराया जाए। कान्फ्रेंस ने अनेकों बार प्रस्ताव भी पास किए हैं। विनयचन्द भाई ने भी इस विषय में बहुत आग्रह किया था। आज भी स्थानकवासी समाज के बहु-भाग का यही आग्रह है, कि कवि जी से आगमों का अनुवाद, संकलन और सम्पादन कराया जाए। परन्तु

कवि जी ने उन लोगों के समक्ष एक प्रस्ताव रखा है, जिसका अभिप्राय यह है, कि—

"आगम को प्रमाण मानकर चलने वाले लोग पहले एक 'आगम-संगीतिका' बुलाएँ, जिसमें श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथ के अधिकृत विद्वान किसी एक स्थान पर मिलकर आगमों के पाठ-भेद पर और अर्थ-भेद पर गम्भीरता से विचार-चर्चा कर लें, फिर आगमों का अनुवाद, संकलन और सम्पादन होना चाहिए। तभी वह कार्य युग-युगजीवी वन सकेगा।" आगमों के सम्पादन में भी कवि जी समन्वय को नहीं भूले। इस विषय में उन्होंने 'जैन-प्रकाश' में एक वक्तव्य भी दिया था। वह वक्तव्य इस प्रकार है—'समवेत आगम-वाचना'—

"किसी भी समाज के विश्वास, विचार और आचार का मूल स्रोत होता है—उस समाज के द्वारा मान्य किसी आप्त पुरुष की वाणी, शास्त्र। विना मूल के शाखा-प्रशाखाएँ कैसे हो सकती हैं? किसी भी प्रासाद के सुन्दर और उच्च शिखर के लिए उसकी नींव भी मजबूत होनी चाहिए।

वैदिक परम्परा का मूल स्रोत 'वेद' है, वौद्ध परम्परा का मूल स्रोत 'पिटक' है, और जैन परम्परा का मूल प्रेरणा-स्रोत 'आगम' है। प्रत्येक परम्परा अपने मूल ग्रन्थों से अनुप्राणित होकर ही अपने विचार, आचार और विश्वास की दिशा स्थिर करती है, वह उसकी मूल सम्पत्ति है।

जैन परम्परा में दिगम्वर-धारा को छोड़कर शेष समस्त सम्प्रदाय आगमों पर श्रद्धा रखते हैं। मूर्ति-पूजक परम्परा, स्थानक-वासी परम्परा और तेरह-पंथ परम्परा एक स्वर से आगमों को मान्य करती हैं। यह वात अलग है, कि आगमों की संख्या के सम्बन्ध में कुछ भेद है, किन्तु वह एक नगण्य भेद है। श्वेताम्वर परम्परा की तीनों शाखाओं का मूल, आगम है। यद्यपि दिगम्वर-धारा भी आगमों के आचारांग आदि नामों को तो स्वीकार करती है, तथापि वह वर्तमान आगमों को मान्य नहीं करती।

वर्तमान युग में आगमों के एक शुद्ध एवं स्थिर संस्करण की अत्यन्त आवश्यकता है। कम-से-कम मूल पाठ तो पाठकों के हाथों में सर्वशाखा-सम्मत एक-रूपता में पहुँचना ही चाहिए। परन्तु खेद है, कि श्वेताम्बर परम्परा की तीनों प्रमुख शाखाओं की ओर से अभी तक इस प्रकार का कोई उपक्रम नहीं किया गया। यद्यपि तीनों शाखाओं में कुछ समय से आगमोद्धार की चर्चा यदा-कदा सुनने को मिल जाती है। परन्तु अभी तक सर्व-सम्मत पाठ वाली एक संहिता की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

श्री पुण्यविजय जी वर्षों से आगम-सम्पादन के लिए प्रयत्नशील हैं। तेरापंथ समाज भी आगमों के कार्य को हाथ में ले चुका है। स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस भी आगमों के सम्पादन और प्रकाशन का वर्षों से प्रचार कर रही है। पर, यह सब अलग-अलग प्रयत्न हैं, समवेत प्रयत्न अभी तक इस दिशा में किसी की ओर से भी नहीं किया गया।

मेरा यह विचार वर्षों से रहा है, और आज भी वह ज्यों का त्यों स्थिर है, कि मूर्ति-पूजक, स्थानकवासी और तेरापंथ के अधिकृत विद्वानों का एक प्रभावशाली प्रतिनिधि मण्डल किसी योग्य स्थान पर मिलकर प्राचीन आगम-वाचनाओं के अनुरूप पहले आगमों के मूल पाठों का एकीकरण एवं स्थिरीकरण कर लें। मूल पाठों के शुद्ध और स्थिर हो जाने के बाद उनका प्रकाशन होना अधिक हितकर एवं श्रेयस्कर रहेगा। वर्तमान आगम प्रकाशन एकांगी एवं एक पक्षीय होते हैं, फलतः विभिन्न पाठ भेदों में उलझे रहने के कारण पाठक को कभी-कभी बहुत बड़े भ्रांति-चक्र में डाल देते हैं।

आगम हमारी संस्कृति एवं सभ्यता के मूल-स्रोत हैं। हमारी श्रद्धा के केन्द्र-बिन्दु हैं। प्राचीन आचार्यों ने उन पर निर्युक्ति, भाष्य, टीका और टव्वा लिखकर ज्ञान के क्षेत्र में महान् साधना की है। उनकी महान् सेवाओं का अपलाप नहीं किया जा सकता। परन्तु 'आज हमारा क्या कर्त्तव्य है ?' इस पर गम्भीरता से विचार करके कोई प्रभावशाली क़दम उठाना चाहिए।

वीर जयन्ती आ रही है। वह तो प्रतिवर्ष ही आती है। भगवान् महावीर के नाम का कोरा नारा लगाने से कोई लाभ नहीं। आज का युग नारों का नहीं, रचनात्मक क़ाम करने का है।

मैं चाहता हूँ, कि श्वेताम्बर-परम्परा की तीनों शाखाओं के अधिकृत विद्वान आगमों पर विचार करने के लिए निकट भविष्य में एक 'आगम संगीति' अर्थात् 'आगम-वाचना' की संयोजना को मूर्त रूप देने का सफल प्रयत्न करें। आगमोद्धार का सबसे पहला, साथ ही महत्वपूर्ण कदम है। आगम-वाचना के विना आगम प्रकाशन का कार्य स्थायी एवं प्रभावशाली नहीं होगा।

अस्तु, वीर जयन्ती के पुनीत पर्व पर तीनों सम्प्रदायों की ओर से इस दिशा में महत्वपूर्ण निर्णय होना चाहिए। तभी हमारा वीर जयन्ती मनाना सफल होगा। भगवान् महावीर के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जली यही है। क्या हम इस दिशा में कुछ सोचेंगे, विचारेंगे ?"

—'जैन-प्रकाश' में प्रकाशित

सामाजिक समन्वय—जो व्यक्ति धर्म, दर्शन और साहित्य में समन्वयवादी रहा है, वह अपने व्यवहार में समन्वयवादी क्यों न होगा ? कवि जी के व्यक्तित्व की यही एक अनुपम विशेपता है, कि जैसे उनके विचार, वैसी उनकी वाणी, और जैसी उनकी वाणी, वैसा उनका व्यवहार। जीवन की एक रूपता और स्पष्टता जैसी कवि जी में अभिव्यक्त हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। वे सोचने में, बोलने में और करने में—सर्वत्र स्पष्ट हैं, निर्भय हैं, और निर्द्वन्द्व हैं। यही कारण है, कि सामाजिक समन्वय में भी आप प्रारम्भ से ही अग्रसर रहे हैं। समाजगत विपमता को आप कभी सहन नहीं करते। आपने अपने शक्ति-भर प्रयत्न से समाज में समन्वय भावना भरने और फैलाने का प्रयत्न किया है, और वर्तमान में भी कर रहे हैं।

मनुष्य-समाज की जातिगत उच्चता और नीचता में कवि जी को जरा भी विश्वास नहीं है। वे मनुष्य मात्र को एक मानते हैं। मनुष्य की मौलिक पवित्रता में भी वे विश्वास करते हैं। जन्म से न कोई ऊँचा है, और न कोई नीचा। मनुष्य अपने कर्म से ही उच्च एवं नीच बनता है। उनका विश्वास है, कि किसी भी जाति में जन्म क्यों न हुआ हो, अगर वातावरण और संस्कार अनुकूल मिल गया, तो मनुष्य प्रगति कर लेता है। जाति को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता,

क्योंकि हड्डी, मांस और रक्त में कोई फर्क नहीं है। वह तो प्रत्येक जाति में समान ही होता है। वास्तव में मनुष्य वातावरण से बनता है, और वातावरण से ही विगड़ता भी है। जन्म से ही किसी की पवित्रता और उच्चता मानना बहुत बड़ी भूल है। इस विषय में कवि जी के स्पष्ट विचार इस प्रकार से हैं—

"जैन-धर्म की परम्परा में यह देखा जाता है, कि एक हरिजन भी सन्त बन सकता है, साधु हो सकता है, और वह आगे का ऊँचे से-ऊँचा रास्ता भी पार कर सकता है। अनेक हरिजनों के मोक्ष प्राप्त करने की कथाएँ हमारे यहाँ आज भी मौजूद हैं। हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य साधु बनकर भी जीवन की पवित्रता को कायम नहीं रख सके और पथ-भ्रष्ट हो गए। फिर जाति सम्पन्नता का अर्थ ही क्या रहा? इसके विपरीत हरिकेशी एवं मेतार्य जैसे हरिजन भी अपने पावन जीवन से महान् बन गए, पूज्य हो गए। अतः जातिवाद न शास्त्र की बात है और न परम्परा की ही। वह तो स्वार्थ-रत लोगों की मनः कल्पना की एक कल्पित वस्तु है।"

कवि जी किसी भी प्रकार के जातिवाद में विश्वास नहीं रखते। उनका कहना है, कि गुणों की पूजा होनी चाहिए, किसी भी जाति-विशेष की नहीं। जातिवाद विषमता का प्रसार करता है। मानव मानव में भेद-रेखा डालता है। अग्रवाल, ओसवाल और खंडेलवाल आदि सभी भेद मानव द्वारा परिकल्पित हैं—शास्त्रसम्मत नहीं। जैन परम्परा के किसी भी शास्त्र से जातिवाद का समर्थन नहीं होता। किसी भी प्रकार के जातिगत भेद को कवि जी स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में सब मानव एक हैं, उनमें किसी प्रकार का जाति-भेद नहीं है।

समाज में पुत्र को भाग्यशाली और पुत्री को भाग्य-हीना समझा जाता है। परन्तु यह मान्यता अज्ञान का ही परिणाम है। कुछ लोग कहते हैं, कि पुण्य के उदय से लड़का मिलता है, और पाप के उदय से लड़की मिलती है। इस प्रकार बहुत-से जड़-बुद्धि के लोग अपनी सन्तान में भी भेद-बुद्धि पैदा कर देते हैं। यह भी समाज की एक प्रकार की विषमता ही है। इस विषमता से समाज में और परिवार में बहुत-से अनर्थ हो जाते हैं।

कवि जी समाज की उक्त कल्पित मान्यता को स्वीकार नहीं करते। इस विषय में किसी सज्जन ने उनसे एक बार प्रश्न भी किया था। पाठकों की जानकारी के लिए मैं वह प्रश्न और उसका कवि जी द्वारा किया गया समाधान यहाँ पर उद्‌धृत कर रहा हूँ—

प्रश्न—किसी के घर यदि लड़का होता है, तो लोग कहते हैं—पुण्य के उदय से हुआ, और कन्या पैदा हो, तो कहते हैं कि—पाप का उदय हो गया! क्या आपकी दृष्टि से ऐसा मानना ठीक है?

उत्तर—प्रश्न गम्भीर है और लोगों की धारणा है कि पुण्य के उदय से लड़का और पाप के उदय से कन्या होती है!

चाहे हजारों वर्ष से आप यही सोचते आए हों, किन्तु मैं इस विचार को चुनौती देता हूँ कि आपका विचार करने का यह ढंग विल्कुल गलत है। मिथिला के राजा कुम्भ के यहाँ मल्ली कुमारी का जन्म हुआ। वह पाप के उदय से हुआ या पुण्य के उदय से हुआ? और राजा उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म पाप के उदय से अथवा पुण्य के उदय से हुआ? श्रेणिक के यहाँ कोणिक ने जन्म लिया, सो पाप के उदय से या पुण्य के उदय से? मतलब यह है कि एकान्त रूप में लड़का-लड़की के जन्म को पुण्य-पाप का फल नहीं माना जा सकता।

मैंने एक आदमी को देखा है। उसके यहाँ एक लड़का भी था और एक लड़की भी थी। लड़के ने सारी सम्पत्ति वर्वाद कर दी। वह वाप को भूखा मारने लगा और भूखा ही नहीं मारने लगा, डंडों से भी मारने लगा। उसे दो रोटियाँ भी दूभर हो गई। आखिर उसने लड़की के यहाँ अपना जीवन व्यतीत किया और वहाँ उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। जव वह मुझ से एक वार मिला, तो कहने लगा—"वड़ा भारी पुण्य का उदय था कि मेरे यहाँ लड़की हुई। अव जीवन ढंग से गुजर रहा है। लड़की न होती, तो जिन्दगी वर्वाद हो जाती।"

मैंने लड़के के विषय में पूछा, तो उसने कहा—"न जाने किस पाप-कर्म के उदय से लड़का हो गया?"

तो, उसने ठीक-ठीक निर्णय कर लिया। आपके सामने ऐसी परिस्थिति नहीं आई है। अतएव आप एकान्त रूप में निर्णय कर

लेते हैं, कि पुण्य से लड़का और पाप से लड़की होती है। लड़के-लड़की का आना और जाना, यह तो संसार का प्रवाह बह रहा है। इसमें एकान्त रूप से पुण्य-पाप की भ्रान्ति मत कीजिए।

यह जैन है, यह बौद्ध है, और यह हिन्दू है। कुछ लोग समाज में और राष्ट्र में धर्म को लेकर भी भेद-रेखा खड़ी करते हैं। पर, यह सोचने का एक गलत ढंग है। इस प्रकार सोचने से राष्ट्र में अनेक मत-भेद और फिर मनोभेद खड़े हो जाते हैं।

कवि जी से एक बार प्रश्न पूछा गया, कि—"क्या जैन हिन्दू हैं ?" इस प्रश्न के उत्तर में कवि जी ने जो कुछ विचार व्यक्त किए, वे बहुत ही मौलिक हैं। इस पर से उनकी सामाजिक समन्वय भावना का बड़ा सुन्दर परिचय मिलता है। इससे बढ़कर सामाजिक समन्वय और क्या होगा ? मैं यहाँ पर वह प्रश्न और साथ ही उसका समाधान भी उद्धृत कर रहा हूँ—

प्रश्न—जैन हिन्दू हैं अथवा उनसे अलग हैं ? इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार ?

उत्तर—इस प्रश्न का समाधान पाने के लिए हमें इतिहास की गहराई में डुबकी लगानी होगी। और उसके लिए विचार करना पड़ेगा कि दरअसल 'हिन्दू' शब्द हमारे इतिहास के पृष्ठों पर आया कहाँ से है ? बात यह है कि 'हिन्दू' यह अपना गढ़ा हुआ, बनाया हुआ या चलाया हुआ शब्द नहीं है। यह तो हमें सिन्धु-सभ्यता की बदौलत मिला है। यानी हर हिन्दुस्तानी के लिए 'हिन्दू' शब्द दूसरों के द्वारा प्रयुक्त किया गया है, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

जैन कहीं आकाश से नहीं बरस पड़े हैं। वे भी उसी हिन्दुस्तान में जन्मे हैं, जिसमें हिन्दुओं ने जन्म लिया है। वे सब महान् हिन्दू जाति के ही अभिन्न अंग हैं। जातीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दुओं से जैनों में कोई भेद नहीं हैं। हम जीवन के व्यवहारों में एक-दूसरे से बन्धे हुए हैं। ऐसा कोई नहीं, जो दूसरों से अलग और प्रतिकूल रह सके। पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम रख सके। सह-अस्तित्व, सह-विचार, सह-व्यवहार और सह-जीवन—प्रत्येक हिन्दुस्तानी के जीवन का आदर्श रहा है। इसी आदर्श की शीतल छाया

में हमने अपनी एक लम्बी मंजिल तय की है। इस विशाल और वास्तविक दृष्टिकोण से जैन भी 'हिन्दू' ही हैं—यह असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है।

परन्तु, जहाँ धर्म का प्रश्न आता है, वहाँ जैन अपने पड़ौसियों और साथियों से कुछ अलग पड़ जाता है। उसके धार्मिक विचार तथा आचार, वैदिक-धर्म के आचार-विचार से भिन्न हैं। हिन्दू एक जाति है, धर्म नहीं। भारत के तीन ही प्रधान धर्म रहे हैं—जैन-धर्म, वैदिक-धर्म, और बौद्ध-धर्म। दुर्भाग्य से, कुछ लोगों ने हिन्दू जाति को हिन्दू-धर्म का नाम देना प्रारम्भ कर दिया। यह सब गलत बयानी भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता को न समझने के कारण हुई। जब यह स्थिति सामने आई, तो जैनों के धार्मिक विचार तथा आचार को एक धक्का लगा और उसके परिणाम-स्वरूप उनकी मनोवृत्ति एवं विचार-धारा को पृथक् होने की प्रेरणा मिली।

वस्तुतः यदि भारतीय संस्कृति की विशुद्ध एवं निष्पक्ष भाषा में सोचा जाए, तो धार्मिक दृष्टि से जैन—जैन है और जातीय, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण से जैन—हिन्दू हैं। हिन्दू जाति के साथ उन्हें जीना है और उसी के साथ उन्हें मरना है। उससे अलग होकर वे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। पृथक् होकर वे अपना कोई भी जीवन-व्यवहार नहीं चला सकते।

विशाल-दृष्टि :

कवि जी के व्यक्तित्व की सब से बड़ी विशेषता है—विशाल दृष्टि, उदार भावना और असाम्प्रदायिक विचार। कवि जी का व्यक्तित्व इतना विशाल और इतना विराट है, कि जो सब में रम चुका है, और जिसमें सबका समावेश हो गया है। जो बिन्दु में सिन्धु है और सिन्धु में बिन्दु है। कवि जी एक व्यक्ति भी हैं, कवि जी एक समाज भी हैं। कवि जी एक भी हैं, कवि जी अनेक भी हैं। कवि जी की दृष्टि विशाल है। कवि जी के विचार विराट हैं। कवि जी का व्यक्तित्व व्यापक है। कवि जी सब में होकर भी अपने हैं, और अपने होकर भी सब के हैं। स्थानकवासी संस्कृति में उनका विश्वास अडोल, अडिग और अमिट है। फिर भी वे किसी प्रकार के साम्प्रदायिक दुराग्रह-मूलक बन्धन से बद्ध

नहीं हैं। आप अपनी श्रद्धा में दृढ़ हैं, किन्तु फिर भी आप उदार हैं, विशाल हैं, व्यापक हैं। किसी भी प्रकार का साम्प्रदायिक अभिनिवेश आपके जीवन-व्यवहार में दृष्टिगोचर नहीं होता है। प्रत्येक सम्प्रदाय के व्यक्ति से वे बड़े प्रेम, सद्भाव और स्नेह के साथ मिलते हैं।

कवि जी जब पंजाब की विहार-यात्रा कर रहे थे, तब पंजाब में आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि जी भी थे। एक बार ऐसा प्रसंग आया कि कवि जी और सूरि जी दोनों का अम्बाला में मिलन हो गया। दोनों ने एक साथ, एक ही स्थान पर बड़े ही स्नेह एवं सद्भावपूर्ण वातावरण में वीर जयन्ती का उत्सव मनाया। पंजाब में इस मिलन का बड़ा अच्छा प्रभाव रहा। फिर उसी वर्ष पंजाब के रायकोट नगर में कवि जी और सूरि जी का वर्षावास भी हुआ था। पंजाब के लिए यह एक आश्चर्य की बात थी, कि विरोधी मोर्चे के दो नेता एक साथ रहकर भी आपस में टकराए नहीं। विवेक, संघर्ष को सद्भाव में परिणत कर देता है।

आचार्य श्री इन्द्रविजय जी सूरि के साथ भी कवि जी का अत्यन्त घनिष्ट मित्र-भाव है। अनेक बार साथ में प्रवचन हुए हैं। सूरि जी इतिहास के विद्वान् हैं। इतिहास पर उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं।

आगमोद्धारक श्री पुण्यविजय जी के साथ में वर्षों से कवि जी का बहुत निकट का परिचय । सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर पुण्य विजय जी वहीं पर थे। कवि जी ने दो बार उनका सम्मेलन में भाषण कराया था। वे आगमों के गम्भीर विद्वान् हैं। उनके अनुभव बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और मननीय हैं। पुण्यविजय जी की प्रेरणा से ही कवि जी ने सादड़ी सम्मेलन के बाद में पालनपुर का वर्षावास स्वीकार किया था। परन्तु किसी कारणवश पुण्यविजय जी पालनपुर न ठहर सके और वे अहमदाबाद चले गए। कवि जी के लिए उनका यह आग्रह था, कि पालनपुर वर्षावास के बाद में वे पाटण के भण्डार अवश्य ही देखें। इसके लिए अहमदाबाद से पं० बेचरदास जी, जयभिक्खू आदि का एक शिष्टमंडल भी पालनपुर आया था। परन्तु सोजत सम्मेलन में जाने के कारण कवि जी पाटण नहीं जा सके। पुण्यविजय जी के साथ कवि जी की प्रगाढ मित्रता का अखण्ड प्रवाह अब भी चालू है।

सोजत सम्मेलन में जाते हुए कवि जी को जालौर में पन्यास श्री कल्याण विजय जी मिले। कल्याण विजय जी इतिहास के गम्भीर विद्वान् हैं। आपके द्वारा लिखित 'श्रमण भगवान् महावीर' पुस्तक युग-युग तक जीवित रहेगी। आप तटस्थ दृष्टि के विद्वान् सन्त हैं। जालौर में आपने कवि जी को अपना प्राचीन भण्डार भी दिखाया था। निशीथ भाष्य और निशीथ चूर्णि भी सर्वप्रथम वहीं देखी थी। कल्याण विजय जी बहुत ही सहृदय और बहुत ही विद्वान सन्त हैं। कवि जी के साथ में आपका मधुर स्नेह सम्बन्ध है।

आचार्य विजयसमुद्र सूरि जी और पण्डित जनक विजय जी आगरा में आए थे, तो वे भी कवि जी से मिलकर अत्यंत प्रसन्न हुए थे। सूरि जी महाराज हृदय के सरस, प्रकृति के कोमल और मन के सरल हैं। आगरा के वर्षावास में कवि जी के साथ में आपका मधुर एवं सरस स्नेह सम्बन्ध रहा। साथ में अनेक बार भाषण भी हुए थे। शहर से विहार करके सूरि जी लोहामंडी पधारे और कवि जी के पास स्थानक में ही ठहरे। साथ में व्याख्यान भी हुआ था। उस स्नेह मिलन का एक अद्‌भुत दृश्य था।

जनक विजय जी वय से भी और विचारों से भी तरुण हैं। आप सुधारवादी भी हैं, और क्रान्तिकारी भी हैं। आप में जिज्ञासा वृत्ति का चरम विकास है। कवि जी के विचारों से और उनकी कृतियों से जनक विजय जी महाराज बहुत ही प्रभावित हैं। आगरा के वर्षावास में आप शहर से लोहामंडी आकर कवि जी से अनेक विषयों पर प्रश्न पूछ कर अपनी जिज्ञासा वृत्ति को परितृप्त करते थे। पण्डित जनक विजय जी एक साधक हैं—परन्तु नव-युग के। नव-युग की नयी चेतना आपको बहुत प्रिय है। भाषण शैली आपकी बहुत ही प्रिय और रोचक है। अमर साहित्य के आप चिरकाल से अध्येता रहे हैं। आपका कहना है, कि कवि जी के विचार युगानुकूल हैं, और इस प्रकार के विचारों से ही समाज का उत्थान और विकास हो सकता है।

जिस समय कवि जी निशीथ चूर्णि का सम्पादन कर रहे थे, उस समय तेरापंथ सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्री तुलसी जी उत्तर-प्रदेश की विहार-यात्रा करने के लिए आगरा आए थे। कवि श्री जी का और

श्री तुलसी गणी जी का मधुर मिलन आगरा (लोहामंडी) के जैन स्थानक में हुआ था। यह स्नेहमय एवं सद्भावपूर्ण मिलन बहुत ही अद्भुत और प्रभावक था। आचार्य तुलसी जी दिनभर—सायंकाल तक वहीं पर रहे। आहार-पानी भी वहीं पर किया। दोपहर के समय कवि जी के साथ में तुलसी गणी जी की शास्त्र-सम्पादन के विषय में और धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के विषय में विचार-चर्चा होती रही। कवि जी की विद्वत्ता, उदारता और सहृदयता से आचार्य तुलसी जी और उनका शिष्य परिवार परम प्रसन्न था। अचल भवन में कवि जी और तुलसी गणी जी का एक साथ में प्रवचन भी हुआ था। दोनों महान् आत्माओं का यह मधुर मिलन समाज के लिए हर्ष और प्रसन्नता का विषय था।

दिगम्बर समाज में गणेश प्रसाद जी वर्णी बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। आप का अध्ययन गम्भीर और चिन्तन ऊँचा है। अभी वैशाख मास में कवि जी वंग-यात्रा में सम्मेद शिखर जाते हुए ईसरी गए थे। वर्णी जी भी आजकल यहीं पर रहते हैं। वर्णी जी ने कवि जी को अपने आश्रम में ही ठहराया था और कवि जी के प्रवचन भी कराए थे। कवि जी के प्रवचन सुनकर वर्णी जी और आश्रम के अन्य लोग बहुत खुश हुए थे। वर्णी जी के साथ में कवि जी की धर्म, दर्शन और समाज विषय पर विचार-चर्चा भी हुई थी। जनता इस दृश्य को देखकर प्रसन्न थी।

शरणानन्द जी वैदिक परम्परा के प्रसिद्ध संन्यासी हैं। विद्वान् और गम्भीर विचारक हैं। कवि जी के साथ में आपका अजमेर में और पुष्कर में मिलन हुआ था। शरणानन्द जी कवि जी के पाण्डित्य और अगाध ज्ञान से बहुत प्रभावित हैं। जहाँ कहीं पर वे कवि जी की उपस्थिति को देखते हैं, तो कवि जी से मिलने का पूरा प्रयत्न करते हैं। कवि जी में और शरणानन्द जी में जब कभी विचार-चर्चा का अवसर आता है, तब खूब खुलकर होती है। कवि जी के जोधपुर वर्षावास में भी शरणानन्द जी आए हुए थे। कवि जी का और आपका एक साथ वहाँ पर प्रवचन भी हुआ था।

बौद्ध परम्परा के भिक्षुओं के साथ भी कवि जी का खासा अच्छा परिचय है। भिक्षु धर्मानन्द अनेक बार कवि जी को मिलने आते थे। भिक्षु नागार्जुन तो शिमला-यात्रा में कवि जी के साथ में पैदल विहार-

यात्रा भी कर चुके हैं। नागार्जुन जी संस्कृत, प्राकृत और पाली भाषा के प्रौढ़ विद्वान हैं।

बनारस की बात है। सुशील मुनि जी कलकत्ता से बनारस आए और कवि जी कानपुर से बनारस। सारनाथ में कवि जी और सुशील मुनि जी से भिक्षु जगदीश काश्यप मिले। काश्यप जी आजकल पिटकों का सम्पादन और प्रकाशन कर रहे हैं। पाली सहित्य के आप गम्भीर विद्वान् हैं और प्रसिद्ध लेखक भी। काश्यप जी कवि जी के विचारों से बहुत प्रभावित हुए थे। कवि जी की उदार दृष्टि सर्वत्र व्याप्त है।

राष्ट्र-नेताओं से मिलन :

सन् पैंतालीस में कवि जी महाराज दिल्ली से आगरा आ रहे थे, तब बाबू गुलाबचन्द जैन के साथ नयी दिल्ली में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी से मिले थे। चालीस मिनट तक कवि जी और गांधी जी में धर्म, समाज और राष्ट्र की समस्या को लेकर बातचीत हुई थी। गांधी जी जैसे महान् थे, वैसे ही विनम्र व्यवहार-चतुर भी थे। बड़े आदर के साथ नमस्कार करते हुए उन्होंने कवि जी से वार्तालाप प्रारम्भ किया। बातचीत के उस मधुर प्रसंग में गांधी जी ने मुस्करा कर कहा—"मैं भी पक्का जैन हूँ। भगवान् महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त का मैं प्रचार कर रहा हूँ।"

कवि जी ने उत्तर में कहा—"जिस व्यक्ति का अहिंसा और अपरिग्रह में पूर्ण विश्वास हो, वह तो अवश्य ही जैन होगा। जिसका आचार पवित्र हो एवं जिसका विचार शुद्ध हो, फिर वह व्यक्ति भले ही किसी भी जाति का और किसी भी देश का क्यों न हो ? वह जैन है।"

कवि जी के उत्तर को सुनकर गांधी जी खूब हँसे और खुश होकर बोले—"आपकी परिभाषा ठीक है।"

इस अवसर पर गांधी जी से मिलने को आजाद आए हुए थे। गांधी जी ने मौलाना आजाद को भी कवि जी का परिचय दिया, तो वे बोले—"मैं जानता हूँ, ये जैन सन्त हैं। भगवान् महावीर के त्याग का आदर्श बहुत ऊँचा है, और आश्चर्य है कि आज के जमाने में भी ये लोग उस पर चल रहे ।"

मौलाना आजाद वेष-भूषा से बहुत सीधे और विचारों में बहुत ऊँचे थे। वे जैन-धर्म को आदर के साथ देखते थे।

मीरा बहिन से भी इस अवसर पर बहुत गम्भीर एवं विचार-पूर्ण चर्चा हुई। मीरा बहिन पंजाबी वेष-भूषा में थीं, और ऐसी लगती थीं, मानों जन्म-जात भारतीय नारी हों। इस पाश्चात्य नारी ने भारतीय संस्कृति में अपने को एकाकार कर दिया है।

सन् पचास में कवि जी आगरा से दिल्ली होकर व्यावर वर्षावास के लिए जा रहे थे। उस समय दिल्ली में वे राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू से मिले थे। राष्ट्रपति का स्वास्थ्य ठीक न होने से मिलने का स्थान राष्ट्रपति भवन ही रहा। कवि जी को वे बड़े प्रेम और आदर के साथ मिले। इस अवसर पर दिल्ली के बाबू गुलाबचन्द जी जैन जो कवि श्री जी के प्रति प्रारम्भ से ही भावना-शील एवं श्रद्धालु सहयोगी रहे हैं, और आगरा के सेठ रतनलाल जी भी साथ में थे।

राष्ट्रपति वेष-भूषा से सरल, प्रकृति से सौम्य और स्वभाव से बहुत ही मधुर व्यक्ति हैं। उनकी ज्ञान गरिमा का तो कहना ही क्या? बातचीत के प्रसंग में कवि जी से उन्होंने कहा—

"मुझे इस बात का गर्व है, कि मैं भी भगवान् महावीर की जन्म-भूमि में ही जन्मा हूँ। मुझे महावीर के अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास है।"

फिर कवि जी से उन्होंने धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, प्राकृत और पाली भाषाओं के विषय में अनेक प्रश्न पूछे। कवि जी का उत्तर सुनकर वे बोले—"आज के राष्ट्र को आप जैसे उदार विचार वाले सन्तों की बहुत बड़ी आवश्यकता है।"

कवि जी और राष्ट्रपति में लगभग दो घंटे तक वार्तालाप होता रहा। राष्ट्रपति भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन और इतिहास के उच्च-कोटि के विद्वान् हैं। उनका अध्ययन बहुत लम्बा और गम्भीर है। शिष्टाचार में वे गांधी जी जैसे ही मधुर व्यक्ति हैं। सन्तों का वे विशेष आदर करते हैं। राष्ट्रपति के साथ में कवि जी महाराज की विचार गोष्ठी जिस विषय में हुई, उसके सम्बन्ध में सुरेश मुनि जी का एक संस्मरणात्मक लेख यहाँ दे रहा हूँ—

"राष्ट्रपति ने प्रसन्नभाव से नमस्कार-मुद्रा में पूछा—"मुनि जी ! आपका भ्रमण किस ओर होता है ?"

उपाध्याय श्री जी ने उत्तर देते हुए कहा—"जैन साधु तो परिव्राजक है। घुमक्कड़ है, अतः वह निष्प्रयोजन कहीं एकत्र चिपक कर नहीं बैठता। आत्म-कल्याण एवं जन-कल्याण की दृष्टि से वह भारत के इस छोर से लेकर उस छोर तक पैदल यात्रा करता है और जन-साधारण से जीवित सम्पर्क स्थापित करके उसे जीवन की सच्ची दिशा की ओर चलने के लिए सत्प्रेरणा प्रदान करता है। उसके पास व्यक्तिगत कोई मठ या सम्पत्ति नहीं होती। धार्मिक स्थानों की सारी सम्पत्ति सामाजिक है, गृहस्थ-वर्ग को ही उसके सारे अधिकार हैं, साधु-वर्ग का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो अप्रतिबद्ध तथा अकिञ्चन होकर यत्र-तत्र-सर्वत्र विचरण करता है।"

जैन-धर्म की जाति-पांति सम्बन्धी चर्चा चलने पर उपाध्याय श्री जी ने कहा—"जैन-धर्म में जाति-पांति या छुआछूत के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। उसका द्वार मानव मात्र के लिए खुला है। उसकी मूल विचारधारा यह है कि—समूची मानव जाति एक ही है, उसमें ऊँच-नीच या छोटे-बड़ेपन की भेदभरी कल्पना करना न्याय नहीं कहा जा सकता। जन्मना न कोई ब्राह्मण है और न शूद्र। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—जन्म से नहीं, कर्म से, आचरण से बनते हैं—

"कम्मुणा बम्हणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा ह सुद्दो हवइ कम्मुणा।"

देश और काल के प्रभाव से जैनों पर भी जाति-पांति के भेद-भाव की काली छाया पड़ गई है, उसे धीरे-धीरे साफ करने का सक्रिय प्रयत्न किया जा रहा है। एक छोटा-सा पुराणपंथी वर्ग जातिवाद की दुहाई देकर जनता की संकीर्ण भावना को उभारना चाहता है, परन्तु मैं समझता हूँ कि बदला हुआ युग उन्हें वास्तविक सत्य को समझने के लिए मजबूर कर देगा।

स्वयं मेरे जीवन की एक घटित घटना है। जाति-पांति और छुआ-छूत के क्षुद्र घेरों को तोड़ने के लिए वर्षों से अन्तर्जगत् में ही चिन्तन-मनन चल रहा था। किन्तु बीस वर्ष तक विचार, विचार ही रहे,

आचार में परिणत होकर सक्रिय रूप धारण न कर सकें। परन्तु जब एक मुसलमान भाई के यहाँ से—जो कि निरामिष आहारी भी है—आहार लेने का प्रसङ्ग आया, तो जनता में बड़ा विक्षोभ पैदा हुआ। कठिनाइयों की ओर आँखें तरेरते हुए मैंने विचारों को साकार रूप दे ही डाला। अब तो दूसरे साधु भी इस दिशा की ओर गतिशील हैं।"

अहिंसा का प्रसङ्ग छिड़ने पर उपाध्याय श्री जी ने सप्राण शब्दों में कहा—"अहिंसा जैन-धर्म का प्राण है। अतः वह उसके अणु-अणु में परिव्याप्त है। जैन-दर्शन में अहिंसा के दो पहलू माने गए हैं—नकारात्मक और स्वीकारात्मक अथवा निषेधात्मक और विधानात्मक। इन दोनों बाजुओं के समन्वय से ही अहिंसा का सच्चा एवं पूर्ण रूप साधक के सामने आता है। यदि कोई साधक हिंसा से अल्प या बहुत अंशों में निवृत्त हो, परन्तु अवसर आने पर जन-रक्षा या जन-कल्याण की विधायक-प्रवृत्ति से उदासीन रहता है, तो वह धीरे-धीरे हिंसा-निवृत्ति द्वारा संचित बल भी गँवा बैठता है। हिंसा-निवृत्ति की सच्ची कसौटी तभी होती है, जब करुणा या अनुकम्पा की विधायक-प्रवृत्ति का प्रसंग सामने आकर खड़ा होता है। यदि मैं किसी भी देहधारी को अपनी ओर से कष्ट नहीं देता, परन्तु मेरे समक्ष कोई भी प्राणी वेदना एवं पीड़ा से कराह रहा है, असहाय और संकट-ग्रस्त है और उसका कष्ट मेरे सक्रिय प्रयत्न से छूमन्तर हो सकता है या कुछ कम हो सकता है अथवा मेरी सेवा-वृति से उसके धीरज का धागा जुड़ सकता है—ऐसी स्थिति में भी यदि मैं नकारात्मक पहलू को ही पकड़े रहूँ, उसे ही पूर्ण अहिंसा मान बैठूँ, तो इसका अर्थ है कि मेरी अहिंसा निष्प्राण एवं निष्क्रिय है। है। निवृति और प्रवृत्ति—दोनों मिलकर ही अहिंसा की पूर्ण व्याख्या करती हैं। निवृत्ति प्रवृत्ति की पूरक है और प्रवृत्ति निवृत्ति की।"

साधु और गृहस्थ की चर्चा आने पर कवि श्री जी ने बतलाया कि—"साधना की दृष्टि से जैन-धर्म में साधु और गृहस्थ की भूमिका अलग-अलग मानी गई है। इसका यह अर्थ नहीं कि साधु ही श्रेष्ठ है, पूज्य है और गृहस्थ पतित या पापी है। जैन-धर्म वेष-पूजा या बाह्याडम्बर को नहीं, अन्तर-विकास और योग्यता को महत्त्व देता है। वह अन्तर्विवेक साधु और गृहस्थ दोनों भूमिकाओं में प्राप्त हो सकता है। वेष या लिङ्ग उसमें कोई व्यवधान नहीं डालता। करुणा की सजीव मूर्ति भगवान्

महावीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—कितने ही गृहस्थ सदाचार, संयम और विवेक की दृष्टि से साधु की अपेक्षा उच्च होते हैं—

"संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।"

परन्तु, जैनों का एक छोटा-सा वर्ग-विशेष इस विचारधारा की पगडंडी पर भी चल रहा है कि मात्र साधु ही श्रेष्ठ है, पूज्य है, सुपात्र है। गृहस्थ—फिर चाहे वह कितना ही सदाचारी, धर्मोपासक, समाज-सेवी क्यों न हो—पापी है, कुपात्र है। किसी युग में ब्राह्मण-संस्कृति में यह विचारधारा चल पड़ी थी कि जो कुछ श्रेष्ठता है, पूज्यता है, मान-प्रतिष्ठा है, उस सब का अधिकारी एकमात्र ब्राह्मण है। यही विचार-धारा उस वर्ग-विशेष में अपना उग्र रूप लेकर आई—जिसमें साधु को दान देना, उसकी परिचर्या या रक्षा करना धर्म है। और किसी दीन-दुःखी, संकटग्रस्त, असहाय या गृहस्थ मात्र को कुछ देना या उसकी सेवा करना सर्वथा पाप है। इस प्रकार जन-सेवा का सारा क्षेत्र सिमट कर साधु में सीमित हो गया। इतना ही नहीं, जन-कल्याण एवं मानव मात्र की भलाई की प्रत्येक कल्याणी प्रवृत्ति में सर्वथा स्वार्थ—पाप मान बैठे। गत दिनों में समाचार-पत्रों में उस सम्प्रदाय के आचार्य का एक भाषण प्रकाशित हुआ था, जिससे उस सम्प्रदाय की मूलधारा स्पष्ट हो जाती है। उस में कहा गया था कि—"मनुष्यों की भलाई करना स्वार्थ है। उनकी भाषा में स्वार्थ का अर्थ है—पाप।"

उपाध्याय श्री जी ने वार्तालाप का सिलसिला जारी रखते हुए कहा—"जैन-धर्म इतना अनुदार नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों ने समझ लिया है। वह तो आत्म-धर्म है। अतः उसमें अनुदारता को अवकाश कहाँ? इसी दृष्टि से उसने एक ईश्वर नहीं, अनन्त ईश्वर माने हैं। जैन-धर्म का महान् आघोष है कि प्रत्येक आत्मा में परमात्म-भाव रहा हुआ है। परन्तु, उस पर वासनाओं का, विकारों का आवरण छाया हुआ है। यदि अहिंसा, सत्य तथा संयम की कठोर साधना द्वारा उस आवरण को पूर्णतः छिन्न-भिन्न कर दिया जाए, तो यह आत्मा ही परमात्म-पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है, सदा काल के लिए अजर, अमर हो जाता है। महाश्रमण भगवान् महावीर की वह मृत्युञ्जयी वाणी २५०० वर्ष के बाद आज भी भारत के मैदानों में गूंज रही है—

"अप्पा सो परमप्पा।"—आत्मा परमात्मा बन सकता है !

यदि हम गहराई में उतर कर इस स्थिति और मान्यता पर विचार करें, तो मालूम होगा कि इसके पीछे एक सद्भावना और सहृदयता का वातावरण रहा हुआ है, जो हमें पापी, दुराचारी से नहीं, पाप और दुराचार से घृणा करने के लिए बाध्य और अग्रसर करता है। इसका भाव यह है कि जीवन पतन की चाहे कितनी ही निम्नतम कोटि पर क्यों न पहुँच जाए, फिर भी उसमें उत्थान की किरण चमकती रहती है। क्योंकि उसके अन्तर में शिवत्व आसन जमाए जो बैठा है। वह मूलतः शुद्ध है। उस पर जो भी मालिन्य है, वह उसका निजी नहीं, वैभाविक है। वह सदा ऊर्ध्वमुखी है। ज्ञातासूत्र में आत्मा के ऊर्ध्वमुखी भाव के सम्बन्ध में जो तुंबे का दृष्टान्त है, उसका उपाध्याय श्री जी ने जब मर्मस्पर्शी विश्लेषण किया, तो राष्ट्रपति ने इस चर्चा में बड़ा रस लिया। इसी प्रसङ्ग में आत्म-विकास के चौदह गुणस्थानों की चर्चा भी बहुत महत्त्वपूर्ण रही।

"जैन-साहित्य और बौद्ध-साहित्य का उद्गम स्थान एक है, फिर एक अर्धमागधी में और दूसरा पाली में—यह महान् भेद क्यों ?" राष्ट्रपति के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देते हुए उपाध्याय श्री जी ने कहा कि—"पाली तत्कालीन विहार की जनपद-भाषा थी। बौद्ध-साहित्य लिपिबद्ध पहले हुआ और जैन-साहित्य बाद में। बौद्ध-साहित्य मागधी का पूर्व-कालीन रूप है। जैन-साहित्य की प्रथम वाचना पटना में, दूसरी मथुरा में और अन्तिम भगवान् महावीर से ६८० वर्ष बाद वल्लभी (गुजरात) में हुई। अपनी इस लम्बी यात्रा के कारण मागधी, मागधी न रही, प्रत्युत सौरसेनी आदि इतर भाषाओं का पर्याप्त पुट मिल जाने से अर्धमागधी कहलायी। यह मागधी का उत्तरकालीन रूप है।

"कई जैन-भाइयों की ओर से मुझे सूचना मिली है कि जैन हिन्दू नहीं, वे उनसे अलग हैं। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?" राष्ट्रपति के इस सामयिक प्रश्न का उत्तर देते हुए उपाध्याय श्री जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"जैन कहीं आकाश से नहीं बरस पड़े हैं। वे सब महान् हिन्दू जाति के ही अंग हैं। जातीयता, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं। परन्तु, उसके धार्मिक विचार तथा आचार वैदिक धर्म से अलग है। हिन्दू एक जाति है,

धर्म नहीं। धर्म हैं—वैदिक-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म। किन्तु, लोगों ने भ्रान्तिवश हिन्दू-जाति को हिन्दू-धर्म का नाम देना प्रारम्भ कर दिया। जब यह स्थिति सामने आई, तो जैनों की मनोवृत्ति को पृथक् होने की प्रेरणा मिली।"

उपाध्याय श्री जी ने बतलाया कि—"आजकल जन-गणना का जो प्रश्न सामने है, उसके लिए जैनों ने अपने आप को जैन लिखाने का निर्णय किया है। इसके पीछे अधिकार-लिप्सा या आत्म-रक्षा के लिए अन्य साधनों की मांग का कोई प्रश्न नहीं है। जैन-धर्म या जैन-संस्कृति को ऐसा कोई खतरा नहीं है, जिसके लिए अलग अधिकार प्राप्त किए जाएँ। जैन-धर्म अधिकार में नहीं, योग्यता और कर्म-निष्ठा में विश्वास रखता है। यदि योग्यता है, तो अधिकार अपने आप चरण चूमते फिरेंगे और यदि योग्यता नहीं है, तो अयोग्य को मांगने से भी कहाँ अधिकार मिलते हैं? अपने को जैन लिखाकर वे विदित करना चाहते हैं कि आज जनतंत्र भारत में जैनों की जन-संख्या कितनी है? इससे उन्हें धर्म-प्रचार अथवा उनसे जीवित सम्पर्क स्थापित करने में सुविधा रह सकेगी।"

"आपकी देख-रेख में भारतवर्ष के इतिहास का जो सम्पादन हो रहा था, आजकल उसकी क्या स्थिति है?" उपाध्याय श्री जी के इस दूरदर्शितापूर्ण प्रश्न का उत्तर देते हुए राष्ट्रपति ने कहा—"वह प्रवृत्ति सुचारु रूप से चालू है। उसके दो भाग प्रकाश में आ चुके हैं। आगे के लिए एक महती एवं दायित्वपूर्ण संस्था के सदाग्रह से उस योजना का सम्बन्ध उसके साथ जोड़ दिया गया है।"

उपाध्याय श्री जी बोले—"उसमें जैन-युग को उचित स्थान मिलना चाहिए। अब तक जो इतिहास सम्बन्धी कार्य हुए हैं, उन सब में जैन-युग को बहुत ही गौण, नगण्य एवं भ्रान्त रूप में रखा गया है। कम से कम आगे तो वह न्याय की अपेक्षा रखता है।"

राष्ट्रपति ने अत्यन्त गम्भीरता और धीरता से उत्तर देते हुए कहा—"आज के इतिहासकारों को जैन-धर्म या जैन-संस्कृति की व्यापक एवं यथातथ्य जानकारी न होने के कारण ही ये सब भ्रान्तियाँ और भूलें जन्म लेती हैं। इसके साथ-साथ मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि

जैन-समाज में ऐसी निष्पक्ष तथा उदार संस्था का भी अभाव-सा है, जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर विशुद्ध जैन-धर्म के सांस्कृतिक तथा मौलिक रूप की ओर निर्देश कर सके। फिर भी, अब की बार ऐसी व्यवस्था हो सकेगी, जिसमें जैन-संस्कृति के विशेषज्ञ पण्डितों से निकट सम्पर्क स्थापित किया जा सके।"

उपाध्याय श्री जी ने विचार-विनिमय को चालू रखते हुए कहा कि—"भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध समस्त भारत की महत्तम विभूति हैं। विशेषतः आपके विहार के साथ तो उनका घनिष्ठतम सांस्कृतिक सम्बन्ध है। इन दोनों महापुरुषों के पुण्य जन्म-दिवस मनाने का भारत व्यापी नियम जनता के सामने आना चाहिए था। केन्द्र की ओर से इस दिशा की ओर क्या प्रयत्न हो रहा है ?"

राष्ट्रपति ने मीठी मुस्कान के साथ उत्तर दिया—"बिहार प्रान्त ने तो इस विषय में काफी उदारता दिखायी है। इन दिनों में सार्वजनिक छुट्टियाँ भी वहाँ स्वीकृत हो चुकी हैं। किन्तु, केन्द्र की स्थिति इससे भिन्न है। हमारे यहाँ छुट्टियों की भरमार है, जिनमें बहुत-सी छुट्टियाँ तो ऐसी हैं, जो वास्तव में कोई अर्थ नहीं रखतीं। फिर भी वे चल रही हैं। उन्हें एकदम हटा देने में भी कठिनाइयाँ हैं। आपने जो कुछ कहा है, हम स्वयं इस सम्बन्ध में जागृत हैं। जब भी स्थिति सामने आएगी, इन महापुरुषों के जन्म-दिवस की छुट्टी के के सम्बन्ध में विशेषतः विचार किया जायगा।"

गांधी जी के निधन के बाद जब सन्त विनोबा हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के शमनार्थ शान्ति-यात्रा कर रहे थे, तब कवि जी दिल्ली में थे। उस अवसर पर कवि जी और सन्त विनोबा दो बार मिले। एक बार तो विनोबा जी मिलने के लिए कवि जी के पास महावीर भवन में आए। लगभग एक घंटे तक दोनों में विभिन्न विषयों पर वार्तालाप होता रहा। विनोबा जी ने मुस्करा कर कहा—

"आप मुझे मेरी शान्ति-यात्रा में सहयोग दीजिए।"

कवि जी ने मुस्करा कर शान्त स्वर में कहा—

"एक जैन सन्त के जीवन का लक्ष्य यही है, कि वह जीवन भर शान्ति-यात्रा करता रहे। लोक-सुख और लोक-कल्याण के लिए ही

उसका जीवन है। वह आत्मशान्ति का उपलब्धि के साथ विश्व-शान्ति के प्रसार में भी अपना योगदान देता है। मैं भी यथाशक्ति उस योग दान में संलग्न हूँ।"

उसी वर्ष दिल्ली में फिर एक वार कवि जी और सन्त विनोवा मिले। दोनों का एक साथ प्रवचन भी हुआ था। कवि जी के जीवन-स्पर्शी साहित्य को देखकर विनोवा जी ने सन्तोष व्यक्त किया। विनोवा जी का अध्ययन विशाल और गम्भीर है। साप्ताहिक हिन्दुस्तान में विनोवा जी का एक चित्र प्रकाशित हुआ है, जिसमें वे कवि श्री जी के श्रमण-सूत्र का अध्ययन कर रहे हैं।

भारत की स्वाधीनता से पूर्व कवि जी सरदार पटेल, भूलाभाई देसाई, महादेव देसाई, देवीदास भाई, आसफअली, कृपलानी जी, जमनालाल वजाज, धीरेन्द्र मजूमदार, अरविन्द वोस और काका कालेलकर आदि से भी मिले हैं।

कवि जी अपने स्वभाव के निराले व्यक्ति हैं। वे स्वयं अपनी ओर से जोड़-तोड़ लगाकर किसी नेता से मिलने की उत्कण्ठा नहीं रखते। परन्तु किसी प्रसंग-विशेष पर यदि किसी से मिलना हो, तो उन्हें किसी प्रकार का संकोच भी नहीं है। उनका व्यक्तित्व अपने ढंग का निराला है।

जातिवाद के बन्धन से परे :

कवि जी के सम्वन्ध में कुछ आलोचक यह कहते हैं, कि कवि जी जात-पाँत को नहीं मानते। वे हरिजनों के घरों से भोजन-पानी ग्रहण कर लेते हैं। वे हरिजनों को प्रोत्साहन देते हैं और उनसे प्रेम करते हैं—उनका पक्ष लेते हैं।

यह विल्कुल ठीक वात है। कवि जी हरिजनों से प्रेम करते हैं—खूव प्रेम करते हैं। वे मानव-जाति में ऊँच-नीच की भेद-रेखा को कथमपि स्वीकार नहीं करते। व्यक्ति अपने कर्मों से ऊँचा और नीचा वनता है—जन्म-मात्र से नहीं। कवि जी हरिजनों का भोजन-पान ग्रहण अवश्य करते हैं, परन्तु प्रश्न है—किन का ? जिनका आचार पवित्र है, जिनके विचार शुद्ध हैं—वे जाति की दृष्टि से कोई भी हों, कवि श्री जी विना किसी संकोच के मुक्त-भाव से उनके घर से भोजन-पान ग्रहण कर सकते

हैं। जीवन की संशुद्धि के लिए और जीवन के विकास के लिए कवि श्री जी हरिजनों को प्रेरणा देते हैं और प्रोत्साहन भी देते हैं। यदि हरिजनों के साथ कोई बुरा व्यवहार करता है, उनके साथ अन्याय करता है, तो कवि श्री जी हरिजनों का ही पक्ष लेते हैं।

जोधपुर वर्षावास का प्रसंग है। वाहर से कुछ हरिजन दर्शन के लिए वहाँ पर आए हुए थे। वे लोग वर्षों से जैन-धर्म का पालन कर रहे थे। व्याख्यान के समय वे लोग सामायिक करके परिषदा में वैठने लगे, तो आभिजात्य वर्ग के कुछ लोगों ने उन्हें वहाँ पर वैठाया, जहाँ पर लोग जूते उतारते हैं। जोधपुर के कतिपय उत्साही विचारक युवकों द्वारा जव यह सव मालूम हुआ तो इस प्रसंग पर कवि जी ने वहाँ के आभिजात्य वर्ग को उद्‌वोधन दिया—"धर्म-स्थान में यह भेद-भाव, जो भगवान् महावीर की परंपरा के सर्वथा विरुद्ध है, सहन नहीं किया जा सकता।" उन्होंने व्याख्यान देने से इन्कार कर दिया। फलतः हरिजनों को उचित स्थान पर—परिषदा में वैठाया गया।

सन् पचास में कवि जी का वर्षावास व्यावर में था, एक खटीक सज्जन, जो वर्षों से जैन-धर्म का पालन कर रहे थे—कवि जी से वहुत ही दीन स्वर में वोले—"गुरुदेव! मैं जैन तो वन गया हूँ, परन्तु मेरा वारहवाँ व्रत अभी तक नहीं फल सका है। अनेक सन्तों से प्रार्थना भी कर चुका हूँ, परन्तु किसी ने भी कृपा नहीं की।"

उक्त वात को सुनकर कवि जी ने कहा—"ठीक है, किसी अवसर पर तुम्हारी वात का ध्यान रखेंगे।" और अवसर आने पर कवि जी स्वयं ही उक्त सज्जन के घर पर गोचरी के लिए गए। पुराण-पन्थी लोगों ने वहुत कुछ शोरगुल किया, परन्तु धीरे-धीरे सव शान्त हो गए।

वात सन् पैंतालीस की है। कवि जी उस समय दिल्ली में थे। मुसलमान भाई श्री जमील—जो पन्द्रह-वीस वर्षों से जैन-धर्म का पालन कर रहे थे, जो सामायिक और प्रतिक्रमण भी करते थे, जो अनेक थोकड़े सीख चुके थे—उन्होंने कवि जी से कहा—

"महाराज, मैं जैन वन गया हूँ। परन्तु मेरे हृदय में एक यही वेदना है कि आज तक कोई भी सन्त मेरे द्वार पर नहीं पधारे। आप कृपा करें तो यह वन्धन टूट सकता है, अन्यथा यावज्जीवन यह

इच्छा मन के अन्दर ही दफन होकर रह जाएगी।" कवि जी स्वयं उसके घर भिक्षा को गए। दिल्ली में एक बार तो आश्चर्य की लहर दौड़ गई। लालाओं को यह बात बड़ी ही अनहोनी-सी लगी। आज तो उस भाई के घर अनेक सन्त गोचरी को जाते हैं। अब परहेज नहीं रहा है। परन्तु सर्वप्रथम सत्साहस के साथ मानसिक संकोच के द्वार खोलने का श्रेय कवि श्री जी को ही है।

भीनासर सम्मेलन से पूर्व कवि जी वर्षावास के लिए जयपुर आ रहे थे। खंडेला में बालूराम खटीक परिचय में आए, प्रभावित हुए, और बस जैन-धर्म के गहरे रंग में रंग गए। अन्य भी कुछ भाई सत्संग का लाभ लेते रहे। तदनन्तर जयपुर के वर्षावास में लगभग ४०-५० खटीक परिवारों को जैन-धर्म में दीक्षित किया। उनके यहाँ आहार-पानी भी ग्रहण किया। खटीक भाइयों ने बहुत बड़ी संख्या में जैन-धर्म स्वीकार किया है। अब उन्हें "वीर वाल' कहते हैं। वीरवालों की संख्या बढ़ रही है।

अहिंसक समाज रचना के इस महाकार्य को पण्डित समीर मुनि जी बड़ी योग्यता और दक्षता के साथ प्रगति की ओर लेजा रहे हैं। समाज-सुधार के और समाज-निर्माण के इस पवित्र कार्य में समीर मुनि जी की सेवाओं को भुलाया नहीं जा सकेगा। वीरवाल समाज के इतिहास में उनका नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाने योग्य है। आज भी वे इस पवित्र कार्य में संलग्न हैं।

आगरा में भी लालमन जी और उनके सुपुत्र परमानन्द जी जैन-धर्म का पालन करते हैं। दोनों पिता और पुत्र कवि जी के परम भक्त हैं। लालमन जी प्रतिदिन व्याख्यान में आते हैं। परमानन्द जी प्रतिदिन सामायिक करते हैं। हरिजन होकर भी ये जैन-धर्म का पालन बड़ी दृढ़ता एवं श्रद्धा के साथ में करते हैं।

हरिजनों के सम्बन्ध में कवि श्री जी के क्या विचार हैं? जैन परम्परा में हरिजनों का क्या स्थान रहा है? जैन-संघ में हरिजनों के प्रति क्या दृष्टिकोण था? इस विषय में, मैं यहाँ पर कवि जी का एक निबन्ध उद्धृत कर रहा हूँ। इस पर से पाठक यह समझ सकेंगे, कि कवि जी का हरिजनों के प्रति क्या दृष्टिकोण है—

"आज से करीब ढाई हजार वर्ष पहले छूत-अछूत के सम्बन्ध में भारत की अब से भी कहीं अधिक और बहुत अधिक भयंकर स्थिति थी। शूद्रों की छाया तक से घृणा की जाती थी और उनका मुँह देखना भी बड़ा भारी पाप समझा जाता था। उन्हें सार्वजनिक धर्म-स्थानों एवं सभाओं में जाने का अधिकार नहीं था। वे और तो क्या, जिन रास्तों पर पशु चल सकते हैं, उन पर भी नहीं चल सकते थे। वेद आदि धर्म-शास्त्र पढ़ने तो दूर रहे, विचारे सुन भी नहीं सकते थे। यदि किसी अभागे ने राह चलते हुए कहीं भूल से सुन भी लिया, तो उसी समय धर्म के नाम पर दुहाई मच जाती थी, और धर्म के ठेकेदारों द्वारा उसके कानों में उकलता हुआ सीसा गलवा कर भरवा दिया जाता था। हा, कितना घोर अत्याचार! राक्षसता की हद हो गई। बात यह थी कि जातिवाद का बोलबाला था, धर्म के नाम पर अधर्म का विष-वृक्ष सींचा जा रहा था।

उसी समय क्षत्रिय कुण्ड नगर में राजा सिद्धार्थ के यहाँ भगवान् महावीर का अवतार हुआ। इन्होंने अपनी तीस वर्ष की अवस्था में—भरपूर जवानी में राज्य-वैभव को ठुकरा कर मुनि-पद धारण कर लिया और कैवल्य प्राप्त होते ही छूताछूत के विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा कर दिया। अन्त्यज और अस्पृश्य कहलाने वाले व्यक्तियों को उन्होंने अपने संघ में वही स्थान दिया, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च कुलों के लोगों का था।

भगवान् महावीर के इस युगान्तकारी विधान से ब्राह्मणों एवं दूसरे उच्च वर्णों के लोगों में बड़ी भारी खलबली मची। फलतः उन्होंने उसका यथाशक्य घोर विरोध भी किया, परन्तु भगवान् महावीर आदि से अन्त तक अपने प्रण पर—अपने सिद्धान्त पर अटल रहे, उन्होंने इस विरोध की तनिक भी परवाह न की। अन्ततोगत्वा प्रभु ने हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी तक समभाव की विजय दुन्दुभि बजा दी और अस्पृश्यता के कतई पैर उखाड़ दिए। विरोधी लोग देखते ही रह गए, उनका विरोध कुछ भी कारगर न हो सका।

भगवान् महावीर की व्याख्यान सभा में, जिसे समवसरण कहते हैं, आने वाले श्रोताओं के लिए कोई भी भेद-भाव नहीं था। उनके

उपदेश में जिस प्रकार ब्राह्मण आदि उच्च कुलों के लोग आते-जाते थे, ठीक उसी प्रकार चाण्डाल भी। बैठने के लिए कुछ पृथक्-पृथक् प्रबन्ध भी नहीं होता था। व्याख्यान सभा का सब से पहला कठोर, साथ ही मृदुल नियम यह था कि कोई किसी को अलग बैठने के लिए तथा बैठे हुए को उठ जाने के लिए नहीं कह सकता था। पूर्ण साम्यवाद का साम्राज्य था, जिसकी जहाँ इच्छा हो वहाँ बैठे, आज के समान कोई झिड़कने वाला तथा दुत्कारने वाला नहीं था। क्या मजाल, जो कोई जात्याभिमान में आकर कुछ आनाकानी कर सके। यह सब क्यों था? भगवान् महावीर वस्तुतः दीनबन्धु थे, उन्हें दीनों से प्रेम था।

भगवान् महावीर के इन उदार विचारों तथा व्याख्यान सभा सम्बन्धी नियमों के सम्बन्ध में दो मुख्य घटनाएँ ऐसी हैं जो इतिहास के पृष्ठों पर सूर्य की तरह चमक रही हैं। नियम सम्बन्धी एक घटना भारत के प्रसिद्ध नगर राजगृह में घटित हुई है। राजगृह नगर के गुणशील बाग में भगवान् वीर प्रभु धर्मोपदेश दे रहे थे। समवसरण में जनता की इतनी अधिक भीड़ थी कि समाती न थी। स्वयं मगधपति महाराजा श्रेणिक सपरिवार भगवान् के ठीक सामने बैठे हुए उपदेश सुन रहे थे। इतने ही में एक देवता, राजा श्रेणिक की परीक्षा के निमित्त चाण्डाल का रूप धारण कर समवसरण में आया और राजा श्रेणिक के आगे जाकर बैठ गया। वहाँ पर भी निचला न बैठा, पुनः पुनः भगवान् के चरण-कमलों को हाथ लगाता रहा और अपना मस्तक रगड़ता रहा। इस व्यवहार से राजा श्रेणिक अन्दर ही अन्दर कुढ़ता रहा, किन्तु नियम सम्बन्धी विवशता के कारण प्रकट रूप में कुछ नहीं बोल सका। यह कथा आगे बहुत विस्तृत है। किन्तु अपना प्रयोजन केवल यहीं तक रह जाता है। इस घटना से पता लगाया जा सकता है कि उपर्युक्त सभा-सम्बन्धी नियम का किस कठोरता के साथ पालन होता था।

दलितों के प्रति उदारता वाली दूसरी घटना पोलासपुर की है। वहाँ के सकडाल नामक कुम्हार की प्रार्थना पर भगवान् महावीर स्वयं उसकी निजी कुम्भकार-शाला में जाकर ठहरे थे। वहीं पर उसको मिट्टी के घड़ों का प्रत्यक्ष दृष्टान्त देकर धर्मोपदेश दिया और अपना शिष्य बनाया। भविष्य में यही कुम्हार भगवान् के श्रावकों में मुख्य हुआ एवं श्रावक संघ में बहुत अधिक आदर की दृष्टि से देखा गया। उपासक-

दशांग-सूत्र में इसके वर्णन का एक स्वतंत्र अध्याय है। अतः विशेष जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं। उपलब्ध आगम साहित्य में, जहाँ तक पता है, शायद यही एक घटना है, जो भगवान् इस प्रकार गृहस्थ के कार्य-भवन में ठहरे हैं। इससे भगवान् का दलितों के प्रति प्रेम का पूर्ण परिचय मिल जाता है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों की अपेक्षा, भगवान् ने एक कुम्हार को कितना अधिक महत्व दिया है? विश्ववंद्य महापुरुष का एक साधारण कुम्हार के घर पर पधारना कोई मामूली घटना न समझिएगा।

भगवान् महावीर के वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी विचार अतीव उग्र एवं क्रान्तिकारी थे। वे जन्मतः किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि नहीं मानते थे। जहाँ कहीं काम पड़ा है, उन्होंने कर्त्तव्य पर ही जोर दिया है। इसके विषय में उनका मुख्य धर्म-सूत्र यह था—

"कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

अर्थात्—"जन्म की अपेक्षा से सब के सब मनुष्य हैं। कोई भी व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र होकर नहीं आता। वर्ण-व्यवस्था तो मनुष्य के अपने स्वीकृत कर्त्तव्यों से होती है। अतः जो जैसा करता है, वह वैसा ही हो जाता है अर्थात् कर्त्तव्य के बल से ब्राह्मण शूद्र हो सकता है और शूद्र ब्राह्मण हो सकता है।

भगवान् महावीर के संघ में एक मुनि थे। उनका नाम था हरिकेशी। वे जन्मतः चाण्डाल कुल में पैदा हुए थे। उनका इतना त्यागी एवं तपस्वी जीवन था कि बड़े-बड़े सार्वभौम सम्राट् तक भी उन्हें अपना गुरु मानते थे और सभक्ति-भाव उनके चरण छूते थे। और तो क्या, बहुत से देवता भी इनके भक्त हो गए थे। एक देवता तो यहाँ तक भक्त हुआ कि हमेशा तपस्वी जी की सेवा में ही रहने लगा। इन्हीं घोर तपस्वी हरिजन मुनि हरिकेशी की महत्ता के सम्बन्ध में पावापुरी की महती सभा में भगवान् महावीर स्वयं फरमाते हैं—

"सक्खं खु दीसइ तवो-विसेसोनदीसइ जाइ-विसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएस साहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥"

"प्रत्यक्ष में जो कुछ महत्व दिखाई देता है, वह सब गुणों का ही है, जाति का नहीं। जो लोग जाति को महत्व देते हैं, वे वास्तव में भयंकर भूल करते हैं, क्योंकि जाति की महत्ता किसी भाँति भी सिद्ध नहीं होती। चाण्डाल कुल में पैदा हुआ हरिकेशी मुनि, अपने गुणों के वल से आज किस पद पर पहुँचा है। इसकी महत्ता के सामने विचारे जन्मतः ब्राह्मण क्या महत्ता रखते हैं? महानुभाव हरिकेशी में अव चाण्डालपन का क्या शेप है, वह तो ब्राह्मणों का भी ब्राह्मण बना हुआ है।"

भगवान् महावीर जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने अपने धर्म-प्रचार काल में जातिवाद का अत्यन्त कठोर खंडन किया था और एक तरह उस समय जातिवाद का अस्तित्व ही नष्ट कर दिया था। जातिवाद के खण्डन में उनकी युक्तियाँ वड़ी ही सचोट एवं अकाट्य हैं। जहाँ कहीं जातिवाद का प्रसङ्ग आया, वहाँ भगवान् ने केवल पाँच जातियाँ ही स्वीकार की हैं, जो कि जन्म से मृत्यु पर्यन्त रही हैं, वीच में भंग नहीं होती। वे पाँच जातियाँ ये हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि लौकिक जातियों का जाति-रूप से आगम साहित्य में कहीं पर भी विधानात्मक उल्लेख नहीं मिलता। यदि श्रमण भगवान् महावीर प्रचलित जातिवाद को सचमुच मानते होते, तो वे वैदिक धर्म की भाँति कदापि अन्त्यज लोगों को अपने संघ में आदर योग्य स्थान नहीं देते। भगवान् ने अन्त्यज तो क्या, अनार्यों तथा म्लेच्छों तक को भी दीक्षा लेने का अधिकार दिया है और अन्त में कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष पाने का भी बड़े जोरदार शब्दों में समर्थन किया है। धर्म-शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने के विषय में भी सवके लिए खुला दरवाजा रखने की आज्ञा दी है। इस विपय में किसी के प्रति किसी भाँति की प्रतिवन्धकता का होना उन्हें कतई पसन्द नहीं था।

जातिवाद का खंडन करते हुए भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में जातिवाद को घृणित वताया है। वास्तव में जिन्हें अस्पृश्य कहना चाहिए, वे पाप ही हैं। अतः घृणा के योग्य भी वे ही हैं, न कि मनुष्य। अतः प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं अपने को पापों के कारण से अस्पृश्य समझें और प्रचलित अस्पृश्यता को दूर करने के

लिए भरसक प्रयत्न करें। भला जो स्वयं मल-लिप्त हैं, वे दूसरे मल-लिप्तों से क्यों कर ऊँचे हो सकते हैं?

अन्त में मुझे भगवान् महावीर के अनन्य उपासक जैन बन्धुओं से यह कहना है कि अगर तुम भगवान् महावीर के सच्चे भक्त हो, और उन्हें अपना धर्म-पिता मानते हो, तो उनके कदमों पर चलो। संसार में सच्चा सपूत वही कहलाता है, जो अपने पिता के कार्यों का अनुसरण करता है। छुआछूत का झगड़ा तुम्हारा अपना है, जैन-धर्म का नहीं है। यह तो तुम्हारे पड़ौसी वैदिक धर्म का है, जो तुम्हारी दुर्बलता के कारण जैन-धर्म के अन्दर भी घुस वैठा है। अफसोस, जिस नीचता को तुम एक दिन अपने पड़ौसी के यहाँ पर भी नहीं रहने देना चाहते थे और इसके नाश के लिए समय-समय पर अपना वलिदान तक देते आए थे, वही नीचता आज तुम लोगों में पूर्ण रूप से स्थान पाए हुए है। यह कितनी अधिक लज्जा की वात है? समझ लो, छुआछूत के कारण तुमने भगवान् महावीर के और अपने प्रभुत्व को कुछ घटाया ही है, वढ़ाया नहीं। भगवान् महावीर का जन्म दुखियों और दलितों के उद्धार के लिए ही हुआ था। उनके उपदेशों में इसी सेवा-धर्म की ध्वनि गूँज रही है। आज के अछूत सव से अधिक दुःखी हैं और नीच माने जाते हैं। अतः इनके लिए जो कुछ तुम कर सकते हो, करो और समस्त पृथ्वी पर से छुआछूत का अस्तित्व मिटा दो।"

—'जैन-प्रकाश' में प्रकाशित

युग-निर्माता :

उपाध्याय अमर मुनि जी के तेजस्वी व्यक्तित्व ने स्थानकवासी समाज में नव-युग का निर्माण किया है। उन्होंने समाज को नया विचार, नया कर्म और नयी वाणी दी है। जीवन और जगत के प्रति सोचने और समझने का नया दृष्टिकोण दिया है। वस्तु-तत्त्व को परखने का समन्वयात्मक एक नया दृष्टि-विन्दु दिया है। जिस युग में साधु समाज और श्रावक वर्ग पुराने थोकड़ों और सूत्रों के टब्बे से आगे नहीं वढ़ पा-रहा था, कवि जी ने उस युग में समाज में प्रखर पाण्डित्य और प्रामाणिक साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा करके नये मानव के लिए नये युग का द्वार खोला। उपाध्याय जी ने नयी भाषा, नयी शैली और नयी

अभिव्यक्ति से समाज को नया चिन्तन और नूतन मनन करने की पावन प्रेरणा दी। अपने पुरातन सांस्कृतिक भण्डार से कवि जी ने अपनी प्रतिभा की शान पर चढ़ाकर, चमका कर विचार-रत्न जन-चेतना को प्रस्तुत किए। अपने युग के प्रत्येक विचार को कवि जी ने अपनी बुद्धि की तुला पर तोला। इसी आधार पर उपाध्याय अमर मुनि जी अपने युग के युग-निर्माता हैं, और युग-द्रष्टा भी हैं। वे स्थानकवासी समाज के सन्त हैं, साधक हैं, विचारक हैं, लेखक हैं, कवि हैं, प्रवचनकार हैं, समालोचक हैं और साहित्यकार हैं। शब्दों की रचना भी उन्होंने की है और साथ ही समाज की रचना भी। कवि जी का व्यक्तित्व इन्द्र-धनुष की तरह बहुरंगी रहा है, तभी तो उसमें से विचारों की वह अद्‌भुत चमक और भावनाओं की दिव्य दमक प्रकट हो सकी है, जिससे समस्त समाज चमत्कृत हो गया है।

जैन-जगत् के चमकते-दमकते इस प्रभास्वर व्यक्तित्व के विषय में मुझे केवल इतना भर कहना है, कि विचारों की इस जलती मशाल ने नव-जागरण तथा सुधारवादी इस अणु-युग में जिस विचार-स्रोत को समाज की शुष्क मरुभूमि की ओर उन्मुख किया, उसने समाज को नया जीवन दिया, और उसके साहित्य को नवयुग की नयी वाणी दी। इसी आधार पर कवि जी वर्तमान युग में युग-निर्माता हैं। वे समाज के प्रकाश-स्तम्भ हैं। वे समाज की भव्य-भावनाओं के मेरु-मणि हैं। उन्होंने अतीत से प्रेरणा लेकर, वर्तमान से उत्साह लेकर और भविष्य से आशा लेकर समाज को नया मार्ग दिया है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में कवि जी अपने ढंग के आप हैं।

कवि जी एक सिद्धहस्त लेखक हैं। उनके ग्रन्थों में जैन-धर्म, जैन-संस्कृति और जैन-दर्शन के मौलिक विवेचन के साथ एक अनुभव-शील आध्यात्मिकता के भी दर्शन होते हैं, जो अपने आप में मौलिक हैं। उनके विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। उनका शरीर भले ही अस्वस्थ है, पर उसमें शक्ति और स्फूर्ति अदम्य है। उनकी मुस्कान के भीतर उनकी आत्मा की विजय स्पष्ट है। वर्तमान समाज उन्हें सुनकर, पढ़कर और उनके दर्शन करके आनन्द और उल्लास का अनुभव करता है। आज की भौतिक पीड़ाओं के लिए और आज की बौद्धिक कुण्ठाओं के लिए उनका जीवन-साहित्य जीवन का एक सच्चा हल है।

कवि जी के व्यक्तित्व में वर्तमान युग की समग्र विधाओं का समावेश हो जाने से वे इस वर्तमान युग के निर्माता हैं। वाणी से, कलम से और कर्म से भी।

व्यक्तित्व का आचार-पक्ष :

कवि जी के व्यक्तित्व का आचार-पक्ष अत्यन्त समुज्ज्वल है। कवि जी का जीवन—विचार और आचार की मधुर मिलन-भूमि है। उनके विचार का अन्तिम विन्दु है—आचार, और आचार का अन्तिम विन्दु है—विचार। विचार और आचार का सन्तुलित समन्वय ही वस्तुतः 'कवि जी' पद का वाच्यार्थ है। गम्भीर चिन्तन और प्रखर आचार—कवि जी की जीवन-साधना का सार है।

कवि जी के विचार में स्थानकवासी जैन-धर्म का मौलिक आधार है—चैतन्य देव की आराधना और विशुद्ध चारित्र की साधना। साधक को जो कुछ भी पाना है, वह अपने अन्दर से ही पाना है। विचार को आचार बनाना और आचार को विचार बनाना—यही साधना का मूल संलक्ष्य है।

ज्ञानवान् होने का सार है—संयमवान् होना। संयम का अर्थ है—अपने आप पर अपना नियन्त्रण। यह नियन्त्रण किसी के दबाव से नहीं, स्वतः सहजभाव में होना चाहिए। मानव-जीवन में संयम व मर्यादा का बड़ा महत्त्व है। जब मनुष्य अपने आप को संयमित एवं मर्यादित रखने की कला हस्त-गत कर लेता है, तब वह सच्चे अर्थ में ज्ञानी और संयमी बनता है।

कवि जी का कहना है कि—"भौतिक भाव से हटकर अध्यात्म-भाव में स्थिर हो जाना—यही तो स्थानकवासी जैन-धर्म का स्वस्थ और मंगलमय दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अमर आत्म-देव की आराधना के साधन भी अमर ही होने चाहिए। शाश्वत की साधना, अशाश्वत से नहीं की जा सकती है।"

अपने लेखों में और भाषणों में एकाधिक बार कवि जी इस बात को कह चुके हैं—"यदि जिनत्व पाना हो, तो निजत्व की साधना करो। सर्वतोमहान् वह है, जो अपने को अपने अनुशासन में रख

सकता है। संयम से ही विकारों का उन्मूलन होता है, और विचारों का उन्नयन भी होता है। संयम का अर्थ है—आध्यात्मिक उत्कर्ष, न कि अपने आदर एवं सत्कार की संयोजना। जो व्यक्ति संयम-हीन है, वह कभी भी अपने जीवन का उत्कर्ष नहीं साध सकता—भले ही वह कितना बड़ा पण्डित हो गया हो, क्योंकि क्रिया विना का ज्ञान, केवल भार मात्र होता है। आचार की पवित्रता ही वस्तुतः धर्म का मुख्य आधार है। जीवन की विकृति को कवि जी कभी सहन नहीं करते। वे साधक के जीवन को पावन देखना चाहते हैं।

कवि जी आचार-शून्य पाण्डित्य को कभी पसन्द नहीं करते। वे कहते हैं—

"आचार-हीन पाण्डित्य घुन लगी लकड़ी के समान अन्दर से खोखला होता है। रोगन की पालिश उसे बाहर से चमका सकती है, उसके अन्दर शक्ति नहीं डाल सकती।"

उपाध्याय जी संसार भर के उपदेशकों को सम्बोधन करके कहते हैं—

"मैं भू-मण्डल पर के सभी धर्म-गुरुओं से एवं धर्म-प्रचारकों से कहना चाहता हूँ, कि वे जहाँ-कहीं धर्म-प्रचार करने जाएँ, वहाँ अपने-अपने धर्मशास्त्रों के साथ अपने सुन्दर आचरणों की पुस्तकें भी साथ में ले जाया करें। कागज की पोथी की अपेक्षा मानव के मन पर आचरण की पोथी का अधिक व्यापक एवं गहरा प्रभाव पड़ता है। आचार जीवित पोथी है।"

एक स्थान पर कवि जी मनुष्य को सम्बोधित करके कहते हैं—

"मनुष्य, तू अपनी ही इच्छाओं के हाथ का खिलौना बन रहा है। तेरा गौरव इच्छाओं द्वारा शासित होने में नहीं है, अपितु अपने को उनका शासक बनाने में है। तू इच्छाओं का दास नहीं, स्वामी बन!"

अपने एक प्रवचन में कवि जी अपनी ओजस्विनी वाणी में कहते हैं—

"शब्दों की अपेक्षा कर्म अधिक जोर से बोलते हैं। संसार के धर्म-साधको, तुम चुप रहो, अपने आचरण को बोलने दो। जनता

तुम्हारे उपदेश की अपेक्षा तुम्हारे आचरण के उपदेश को सुनने के लिए अधिक उत्कण्ठित है।"

कवि जी अपने आचार पक्ष में दम्भ, कपट, माया और छलना को कभी पसन्द नहीं करते। वे कहते हैं कि मनुष्य को सरल होकर जीवन की साधना करनी चाहिए—

"अरे मनुष्य! तू नुमाइश क्यों करता है? तू जैसा है, वैसा ही बन। अन्दर और बाहर को एक कर देने में ही सच्ची साधना है। यदि मानव अपने को लोगों में वैसा ही जाहिर करे, जैसा कि वह वास्तव में है, तो उसका बेड़ा पार होते देर न लगेगी।"

साधक को सदा सजग होकर रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में कवि जी कहते हैं—

"कठोर और सदा जागृत रहने वाले पहरेदार के समान, साधक को अपने प्रत्येक शब्द और अपने प्रत्येक कर्म पर कड़ी निगरानी रखनी चाहिए। देखना, कहीं भूल न हो जाए? अनुशासन एवं संयम साधक की साधना का प्राण-तत्त्व है। अपने छोटे से छोटे कार्य और व्यवहार पर कठोर नियंत्रण रखो!"

साधक जब तक अपनी वासना पर विजय प्राप्त नहीं कर लेगा, तब तक किसी भी प्रकार के आचार का पालन नहीं कर सकेगा। इस विषय में कवि जी कहते हैं—

"ब्रह्मचर्य जीवन का अग्नि-तत्त्व है, तेजस् एवं ओजस् है। उसका प्रकाश और उसकी प्रभा जीवन के लिए परम आवश्यक है। भौतिक और आध्यात्मिक तथा शारीरिक और मानसिक—सभी प्रकार का स्वास्थ्य ब्रह्मचर्य पर अवलम्बित है। ब्रह्मचर्य की साधना मन, वचन और तन—तीनों से होनी चाहिए। मन में दूषित विचारों के रहने से भी ब्रह्मचर्य की पवित्रता क्षीण होने लगती है। बाहर में भोग का त्याग होने पर भी कभी-कभी वह अन्दर घुस बैठता है। अतः साधक को अपनी साधना में सदा सजग, सचेत एवं जागृत होकर रहना चाहिए।"

कवि जी के व्यक्तित्व का आचार-पक्ष दिन के उजेले की तरह उजला है। उनका आचार, विचार पर और विचार, आचार पर स्थित

है। उनके जीवन के धरातल पर विश्वास, विचार और आचार का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनका तपःपूत जीवन सत्य है, क्योंकि वह शिव है, और क्योंकि वह सुन्दर है।

कवि जी मन से सरल हैं, बुद्धि से प्रखर हैं, भावना से भावुक हैं, विचार से दार्शनिक हैं, हृदय से श्रद्धा-शील हैं, प्रतिभा से तर्क-शील हैं, और जीवन से विवेक-शील साधक हैं। वे पुराने भी हैं और वे नये भी हैं। वे मृदु-मुख हैं, क्योंकि वे कभी किसी से कठोर वाणी का प्रयोग नहीं करते। वे इतने सहिष्णु हैं, कि कभी भी अपनी आलोचनाओं से परेशान नहीं होते। वे अपने गन्तव्य पथ पर सदा निर्भय होकर आगे बढ़ते हैं, लौटना कभी उन्होंने सीखा ही नहीं।

व्यक्तित्व का विचार-पक्ष :

कवि जी के व्यक्तित्व का विचार-पक्ष बहुत ही शानदार है। वे हिमालय से भी ऊँचे हैं, और सागर से भी गम्भीर। वे विचारों के ज्वालामुखी हैं, परन्तु हिम से भी अधिक शीतल। उनके विचारों में क्षणिक उत्तेजना नहीं, चिरस्थायी विवेक और गम्भीरता ही रहती है। जब किसी भी स्थिति पर वे विचार करते हैं, तब वस्तु के अन्तस्तल तक उनकी प्रतिभा सहज रूप में पहुँच जाती है। आज तक उनकी प्रतिभा और मेधा ने कभी उनके जीवन के साथ छलना नहीं की। सम्मुखस्थ व्यक्ति का तर्क जितना पैना होता है, कवि जी की बुद्धि उतनी ही अधिक प्रखर हो जाती है। विचार-चर्चा में उनकी बुद्धि ने कभी हार स्वीकार नहीं की। कवि जी अथ से इति तक विचारमय हैं। विचार करना उनका सहज स्वभाव है।

उपाध्याय अमर मुनि जी स्थानकवासी समाज के एक सजग, सचेत और सतेज विचारक सन्त हैं। वे कवि हैं, चिन्तक हैं, दार्शनिक हैं, साहित्यकार हैं और आलोचक भी। केवल शाब्दिक रचना के ही नहीं, किन्तु समाज, संस्कृति और धर्म के भी। उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से जिन सत्यों का साक्षात्कार किया, उनका खुलकर प्रयोग एवं प्रचार भी किया। वे सत्य को केवल पोथी और वाणी में ही नहीं, जीवन के धरातल पर देखना चाहते हैं। आकाश के चमकीले तारों की अपेक्षा धरती के महकते फूलों को कवि जी अधिक प्यार करते हैं।

कवि जी क्रान्तिकारी भी हैं, कवि जी सुधारक भी हैं, और कवि जी पुराण-पन्थी भी हैं। कवि जी का जीवन प्रवाह की तरह सदा प्रवहमान है। वे जीवन के पुराने मार्गों में सुधार चाहते , जीवन के नये रास्तों को स्वीकार करना चाहते हैं, और अगम्य तत्त्वों के प्रति कवि जी पूर्णतः श्रद्धाशील हैं।

कवि जी अपने विचारों में सदा से आशावादी रहे हैं। निराशा के काले बादल उनके धवल जीवन-शशी को आच्छादित करने में कभी सफल नहीं हुए। एक स्थान पर कवि जी कहते हैं—

"मनुष्य के सामने एक ही प्रश्न है, अपने जीवन को "सत्यं, शिवं और सुन्दर" कैसे बनाए ? अपने मन की उद्दाम लालसाओं की तृप्ति के लिए पागल बना हुआ मनुष्य क्या इस प्रश्न को समझने का प्रयत्न करेगा ? जिस दिन यह प्रयत्न प्रारम्भ होगा, वह दिन विश्व-मंगल का प्रथम शुभ प्रभात होगा। और मैं समझता हूँ, कि प्रयत्न करने पर वह अवश्य आएगा ही।"

कवि जी आदर्शवादी अवश्य हैं। परन्तु वे जितने आदर्शवादी हैं, उससे अधिक वे यथार्थवादी भी हैं। वे कहते हैं—

"मनुष्य ने सागर के गम्भीर अन्तस्तल का पता लगाया, हिम-गिरि के उच्चतम शिखर पर चढ़ कर देखा। आकाश और पाताल की सन्धियों को नाप डाला। परमाणु को चीर कर देखा—सब कुछ देखकर भी वह अपने आप को नहीं देख सका। दूरबीन लगाकर नये-नये नक्षत्रों की खोज करने वाला मनुष्य अपने पड़ौसी की ढहती हुई झोंपड़ी को नहीं देख सका। इसको जीवन का विकास कहा जाए या ह्रास ?"

कवि जी आज के अणु-युग के मानव से इस प्रश्न का उत्तर चाहते हैं। कवि जी का यथार्थवाद आगे और भी अधिक स्पष्ट होकर आया है—

"दार्शनिको ! भूख, गरीबी और अभाव के अध्यायों से भरी हुई इस भूखी जनता की पुस्तक को भी पढ़ो। ईश्वर और जगत् की उलझन को सुलझाने से पहले इस पुस्तक की पहेली को समझने का भी प्रयत्न करो।"

अहिंसा के विषय में कवि जी के विचार मननीय हैं। वे कहते हैं—

"अहिंसा साधना-शरीर का हृदय भाग है। वह यदि जीवित है, तो साधना जीवित है, अन्यथा मृत है।"

कवि जी की अहिंसा निष्क्रिय नहीं, किन्तु सक्रिय है। वे कहते हैं—

"तलवार मनुष्य के शरीर को झुका सकती है, मन को नहीं। मन को झुकाना हो, तो प्रेम के शस्त्र का प्रयोग करो। प्रेम में अपार बल है।"

कवि जी अहिंसा को जीवन के धरातल पर साकार देखना चाहते हैं।

जीवन के विषय में कवि जी का क्या दृष्टिकोण है? वे कहते हैं—

"जीवन का अर्थ, केवल साँस लेना भर नहीं है। जीवन का अर्थ है—दूसरों को अपने अस्तित्व का अनुभव कराना। यह अनुभव कंकर-पत्थरों के ढेर खड़े करके अथवा शोषण करके नहीं कराया जा सकता। इसका उपाय है—हम दूसरों के लिए साँस लेना सीख लें। अपने लिए तो साँस लेते हैं, परन्तु जीवित वह है, जो दूसरों ने लिए साँस लेता है। यदि तुम किसी को हँसा नहीं सकते, तो किसी को रुलाओ भी मत।"

कवि जी जीवन को क्रियाशील देखना चाहते हैं, निष्क्रय नहीं। जीवन को तेजस्वी बनाने के लिए वे एक सूत्र देते हैं—

"जो आन लो, उस पर अड़े रहना ही तुम्हारी शान है। यही जीवन का तत्त्व है।"

जीवन का ध्येय बताते हुए कवि जी चिरन्तन सत्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"जीवन का ध्येय—त्याग है, भोग नहीं। श्रेय है, प्रेय नहीं। वैराग्य है, विलास नहीं। प्रेम है, प्रहार नहीं।"

मनुष्य की पवित्रता में कवि जी को पूर्ण विश्वास है। वे कहते हैं—

"जिस प्रकार धरती के नीचे सागर बह रहे हैं, पहाड़ की चट्टान के नीचे मीठे झरने हैं, उसी प्रकार क्रूर मनुष्य के अन्तर्मन में भी मानवता का अमृत-स्रोत बह रहा है। आवश्यकता है, उसे थोड़ा-सा खोद कर देखने भर की।"

निराश व्यक्ति को आशा और उत्साह की मधुर प्रेरणा देते हुए कवि जी कहते हैं—

"यदि तू अपने अन्दर की शक्ति को जागृत करे, तो सारा भू-मण्डल तेरे एक कदम की सीमा में है। तू चाहे तो घृणा को प्रेम में, द्वेप को मैत्री में, अन्धकार को प्रकाश में, और मृत्यु को जीवन में तथा नरक को स्वर्ग में बदल सकता है।"

कवि जी के सम्पूर्ण विचारों का परिचय कराना यहाँ शक्य नहीं है। फिर भी स्थूल रूप में उनके विचारों की झाँकी यहाँ पर दी गई है। उनके विचारों का पूर्ण परिचय तो उनके सहित्य के अध्ययन, चिन्तन और मनन से ही जाना जा सकता है।

कवि जी का विचार-पक्ष दिनकर के प्रकाश की तरह भास्वर है। उसमें कहीं पर भी अन्ध-विश्वास, जड़-श्रद्धा और पुरातनरुढ़िवाद को स्थान नहीं है। भ्रान्त परम्पराओं का वे खुलकर विरोध भी करते हैं—पर विवेक के साथ में। कवि जी के व्यक्तित्व का विचार—विरोध में अनुरोध की, वैमनस्य में सामञ्जस्य की और प्रहार में प्रेम की खोज करता है। इसीलिए कवि जी महान् हैं।

अध्ययन :

अध्ययन जीवन की एक कला है। अध्ययन जीवन की एक संस्कृति है। अध्ययन ज्ञान की साधना है। अध्ययन की जो पद्धति प्रचीन-काल में थी, वह मध्यकाल में न रही, और जो मध्य-काल में थी, वह आज के युग में न रही। हर युग की अपनी एक शिक्षण पद्वति होती है। उसी के अनुसार मनुष्य को शिक्षण मिलता है एवं अध्ययन करना होता है। मनुष्य के जीवन का विकास और उसके जीवन का उत्कर्ष, उसकी ज्ञान-साधना पर आधारित होता है।

सामान्य रूप में अध्ययन के अन्तरंग कारण हैं—बुद्धि, प्रतिभा, मेधा, कल्पना और स्मरण शक्ति। विषय को ग्रहण करने वाली शक्ति

को 'बुद्धि' कहते हैं। गृहीत विषय में उठने वाले तर्कों और विकल्पों के समाधान करने की शक्ति को 'प्रतिभा' कहा जाता है। विषय के विस्तार करने की शक्ति को 'मेधा' कहा जाता है। विषय को सुचारुरूप से अभिव्यक्त करने की कला को 'कल्पना' कहते हैं। गृहीत विषय को समय पर उपस्थित करने की शक्ति को स्मृति कहते हैं। उक्त तत्त्वों के बिना अध्ययन गम्भीर, विराट और स्थायी नहीं बनता।

अध्ययन के बहिरंग साधन हैं—अध्यापक, शिक्षण-पद्धति, पुस्तकें और सहपाठी साथी। शिक्षण में सब से बड़ा और सब से पहला मुख्य कारण है—योग्य अध्यापक। योग्य अध्यापक के हाथ में ही छात्र के जीवन निर्माण का दायित्व रहता है। शिक्षण-पद्धति पर भी जीवन विकास निर्भर रहता है। पुस्तकें तो शिक्षण का आवश्यक अंग हैं ही। सहपाठी साथी से भी बहुत कुछ सहयोग मिलता रहता है।

कवि जी की शिक्षा का आरम्भ थोकड़ों से हुआ। पच्चीस बोल, नव-तत्त्व, छब्बीस द्वार, लघुदण्डक, कर्मप्रकृति आदि तीन-सौ छोटे-बड़े थोकड़े कवि जी ने अपने बचपन में याद किए थे। भगवती सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र और जीवाभिगम सूत्र के थोकड़ों को कण्ठस्थ याद करना साधारण बात नहीं, बहुत बड़ी बात है। तीव्र मेधा और तीव्र स्मृति के बिना यह सब कुछ नहीं किया जा सकता। श्रम और स्वाध्याय बल जिसके पास नहीं है, वह इस प्रकार की ज्ञान-राशि कथमपि धारण नहीं कर सकता।

दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, नन्दीसूत्र और सूत्र-कृतांग सूत्र का पूर्व श्रुतस्कन्ध—ये सूत्र भी कवि जी के मुखाग्र थे। इसके अतिरिक्त बहुत-से स्तोत्र भी याद किए थे। भक्तामर, कल्याण-मन्दिर, अन्ययोगव्यवच्छेदिका आदि संस्कृत एवं प्राकृत के छोटे-मोटे पचासों स्तोत्र उन्होंने याद किए थे। उनमें से बहुत से आज भी उन्हें याद हैं, प्रतिदिन वे उनका पाठ करते हैं। कवि जी का यह प्राथमिक अध्ययन है, जो धर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अध्ययन का दूसरा चरण है—संस्कृतभाषा और संस्कृत साहित्य का अध्ययन। कवि जी का संस्कृत अध्ययन महेन्द्र गढ़, नारनौल और सिंघाणा (खेतड़ी स्टेट) में हुआ है। मैथिली पण्डित

गंगेश झा और दिनेश झा से कवि जी ने संस्कृत व्याकरण में लघु कौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन किया। संस्कृत साहित्य में काव्य और नाटक तथा अनेक गद्य-काव्य पढ़े। साहित्य के सिद्धान्त ग्रन्थों में साहित्य-दर्पण और काव्य-प्रकाश जैसे मूर्धन्य ग्रन्थों का अनुशीलन किया। न्याय ग्रन्थों में तर्क-संग्रह, सिद्धान्त मुक्तावली, तर्क-भाषा और सांख्य-तत्त्व कौमुदी आदि ग्रन्थों पर अधिकार प्राप्त किया। एक दिन सम्पूर्ण अमर-कोष भी कण्ठाग्र था।

अध्ययन का तीसरा चरण है—प्राकृत और पाली साहित्य का गम्भीर अध्ययन। प्राकृत वाङ्मय का अध्ययन कवि जी ने पण्डित बेचरदास जी दोशी से किया है। यह अध्ययन दिल्ली में हुआ। पण्डित हेमचन्द्र जी—जो आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के मुख्य शिष्य हैं—प्राकृत के अध्ययन में कवि जी के सहपाठी रहे हैं। कवि जी की प्रतिभा और मेधा-शक्ति से पण्डित बेचरदास जी बहुत ही प्रभावित रहे हैं। आज भी कवि जी से उनका अपार स्नेह-भाव है।

प्राकृत व्याकरण में कवि जी ने आचार्य हेमचन्द्रकृत प्राकृत व्याकरण पढ़ा। फिर स्वतन्त्र भाव से वररुचि का प्राकृत व्याकरण भी देख गए हैं। प्राकृत साहित्य में कुमारपाल प्रतिबोध, प्राकृत कथा-कोष और समरादित्य कथा जैसे आकर ग्रन्थों का अध्ययन किया। अन्य भी बहुत से ग्रन्थ पढ़े।

कवि जी के अध्ययन का चौथा चरण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। अब तक के अध्ययन की धारा भिन्न प्रकार की थी और चौथे चरण में आकर वह भिन्न प्रकार से प्रकट हुई। यहाँ तक के अध्ययन में भाषा मुख्य थी, और आगे के अध्ययन में विचारों की प्रधानता रही है। कवि जी ने अपने अध्ययन के चतुर्थ विभाग में वैदिक, बौद्ध और जैन-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया।

वैदिक परम्परा के दर्शन में—कवि जी ने ऋग्वेद एवं यजुर्वेद का, उपनिषदों में मुख्य एकादश उपनिषदों का, सम्पूर्ण गीता और सम्पूर्ण भागवत का, सम्पूर्ण रामायण और सम्पूर्ण महाभारत का और मुख्य-मुख्य पुराणों का अध्ययन किया है।

वैदिक परम्परा के दर्शनों में न्याय और वैशेषिक का, सांख्य और योग का, मीमांसा और वेदान्त का अध्ययन किया है। परन्तु विशेष रूप से सांख्य, योग और वेदान्त प्रिय रहे हैं।

बौद्ध परम्परा के दर्शन में—कवि जी ने विनयपिटक, दीर्घ-निकाय, मज्झिमनिकाय आदि पिटक-साहित्य और जातकों का अध्ययन किया है। बौद्ध दर्शन के न्यायविन्दु, प्रमाण वार्तिक, धर्म-कोष आदि अन्य अनेक ग्रन्थों का भी उन्होंने समय-समय पर चिन्तन, मनन और अध्ययन किया है।

जैन परम्परा के दर्शन में—कवि जी ने समस्त मूल आगमों का, उपलब्ध निर्युक्तियों का, उपलब्ध भाष्यों का, उपलब्ध चूर्णियों का और संस्कृत टीकाओं का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया है। वर्तमान में प्राप्त टव्वों का पर्यालोचन भी यथासमय एवं यथाप्रसंग किया है।

जैन-दर्शन के आकर और मूर्धन्य ग्रन्थों में विशेषावश्यक भाष्य का, तत्वार्थ भाष्य का, बृहत्कल्प भाष्य का, व्यवहार भाष्य का और निशीथ भाष्य का अध्ययन किया। सन्मतितर्क, प्रमाणमीमांसा, न्यायावतार स्याद्वाद मञ्जरी, रत्नाकरावतारिका, सर्वार्थ सिद्धि, आप्त मीमांसा जैसे कठिन ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। आचार्य कुन्द-कुन्द के अध्यात्म ग्रन्थ—समय-सार, प्रवचन-सार, पञ्चास्तिकाय और नियम-सार का अध्ययन किया है। गोमट-सार का भी अध्ययन किया हैं। आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थ—योगदृष्टि समुच्चय, योग-विन्दु, योगशतक और षोडशक आदि का अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर और श्वेताम्बरों के, श्वेताम्बर (मूर्ति पूजक) और स्थानकवासियों के और स्थानकवासी एवं तेरापन्थियों के चर्चा-साहित्य को भी यथाप्रसंग पढ़ा है।

भाषा की दृष्टि से भी कवि जी का ज्ञान बहुत विशाल है। संस्कृत, प्राकृत और पाली जैसी प्राचीन भाषाओं का उन्होंने गहरा अध्ययन किया है। हिन्दी भाषा के वे प्रकाण्ड पण्डित हैं। गुजराती और उर्दू भाषा पर उनका खासा अच्छा अधिकार है। अँग्रेजी भाषा का अध्ययन भी उन्होंने प्रारम्भ किया था, परन्तु परिस्थितिवश वह आगे नहीं बढ़ सका।

कवि जी ने अधिकांश अध्ययन अपनी प्रतिभा, मेधा, कल्पना और स्मृति के बल पर स्वतः ही किया है। अध्ययन के प्रति उनके श्रम और निष्ठा को देखकर आश्चर्य होता है। वे कभी निष्क्रिय होकर नहीं बैठते हैं। अध्ययन और लेखन उनके तपःपूत जीवन के मुख्य व्यसन हैं। अपने गम्भीर, गहन, दीर्घ और विपुल अध्ययन के कारण ही कवि जी बहुश्रुत बने हैं। आज भी नये से नये विषय को ग्रहण करने के लिए उनकी बुद्धि के द्वार खुले हुए हैं। अनेक ग्रन्थ आज भी उन्हें याद हैं, मुखाग्र हैं। किसी भी विषय की चर्चा छिड़ जाने पर वे उद्धरणों की झड़ी-सी लगा देते हैं। यह सब कुछ उनके गम्भीर अध्ययन का ही शुभ फल है। वे ज्ञान के अधिदेवता हैं।

अध्यापन :

अध्ययन करने से भी कठिन काम है—अध्यापन। किसी भी ग्रन्थ के भावों को पहले स्वयं समझना और फिर दूसरों के दिमाग में उन भावों को बैठाना, वास्तव में बहुत कठिन काम है। अध्यापन के कार्य में वही व्यक्ति सफल एवं पारंगत हो सकता है, जिसके पास में प्रखर प्रतिभा हो, मुखर मेधा हो और प्रखर स्मृति हो। अध्यापन में केवल पुस्तकीय ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता—अनुभव, संवेदन और शैली भी बहुत आवश्यक है। यदि किसी के पास स्वयं का अनुभव नहीं है, तो वह व्यक्ति किसी भी भाँति अध्यापन में सफल नहीं हो सकेगा।

कवि जी के पास प्रतिभा, मेधा, स्मृति और कल्पना तो प्रचुर मात्रा में है ही, पर साथ में गहन अनुभव, गम्भीर संवेदन और मनोहर शैली भी है। कठिन से कठिन विषय को भी सरल से सरल बनाने की उनके पास अद्भुत क्षमता और योग्यता विद्यमान है। मानो, अध्यापन उनका सहज स्वभाव कर्म हो! आप कुछ भी पढ़ें, सब विषय उनके लिए करस्थ एवं कण्ठस्थ हैं। परन्तु जितना रस और आनन्द उन्हें आगम तथा दर्शन-शास्त्र पढ़ाने में आता है, उतना अन्य किसी विषय के अध्यापन में नहीं आता। वैसे वे व्याकरण जैसे नीरस एवं शुष्क विषय को भी सुन्दर शैली से पढ़ाते हैं। यथाप्रसंग वे अन्य ग्रन्थों के विषय का भी परिज्ञान करा देते हैं। उन्होंने जो कुछ भी पाया है, सीखा है और जो कुछ भी पढ़ा है, उसे देने को भी वे सदा तैयार रहते हैं। अपना

महत्त्वपूर्ण काम छोड़कर भी वे जिज्ञासु को कुछ सिखाना अधिक पसन्द करते हैं। समाज में उनके छात्रों की बहुत बड़ी संख्या है, सन्त भी और गृहस्थ भी।

कवि जी के छात्रों में सबसे पहले छात्र हैं—अपने ही परिवार के स्नेही साथी पं० श्री प्रेम मुनि जी और अमोलक मुनि जी। दोनों ने संस्कृत, प्राकृत और आगमों का अध्ययन कवि जी से किया है। श्री प्रेम मुनि जी ने तत्त्वार्थ-सूत्र और कर्म-ग्रन्थों का अध्ययन भी किया है। आप अच्छे प्रवक्ता, शान्त स्वभावी मुनि हैं। अधीत विषय को सरलता से समझा देने की आपकी वचन-कला उल्लेखनीय है।

पंजाब में फरीदकोट वर्षावास में चन्दन मुनि जी ने कवि श्री जी से प्राकृत भाषा और आगमों का अध्ययन किया। चन्दन मुनि जी पंजाब के प्रसिद्ध सन्तों में से एक हैं। आपने अनेक कविताओं की पुस्तकें रची हैं। साथ में आप मधुर वक्ता भी हैं। कोमल हृदय, शान्त प्रकृति और मधुरं स्वभाव—आपके सन्त जीवन की विशेषाताएँ हैं।

योगनिष्ठ श्रद्धेय रामजीलाल जी महाराज के शिष्य मुनि रामकृष्ण जी कवि जी से संस्कृत साहित्य का बहुत दिनों तक अध्ययन करते रहे हैं। मुनि रामकृष्ण जी संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषा के विद्वान् हैं। मधुर प्रवक्ता और सुयोग्य लेखक भी हैं।

गणी उदयचन्द जी महाराज के पौत्र शिष्य और श्री रघुवर दयाल जी महाराज के प्रिय शिष्य अभय मुनि जी ने दिल्ली वर्षावास में कवि जी से भगवती-सूत्र का तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। अभय मुनि जी पंजाब के उदीयमान सन्तों में से एक हैं। आपकी भाषण शैली मधुर और मनोहर है। आपके भाषण को सुनकर जनता प्रेम और आनन्द में झूम जाती है।

ब्यावर वर्षावास में उपाचार्य श्रद्धेय गणेशीलाल जी महाराज के योग्य विद्वान् शिष्य मुनि नेमिचन्द जी ने कवि जी से प्रज्ञापना-सूत्र की संस्कृत टीका पढ़ी। मुनि नेमिचन्द जी ने समय-समय पर विचार-चर्चा करके कवि जी की ज्ञान-राशि में से बहुत कुछ लाभ लिया। मुनि जी

एक विचारक और लेखक सन्त हैं। आजकल आप सन्तवाल जी के साथ में सर्वोदय क्षेत्र में समाज-कल्याण के कार्य में संलग्न हैं।

तपस्वी मिसरीलाल जी महाराज के शिष्य तपस्वी रोशन मुनि जी ने भरतपुर में कवि जी से स्थानांग सूत्र की टीका का अध्ययन किया। रोशन मुनि जी तपस्या की साधना के साथ ज्ञान की भी साधना कर रहे हैं। मुनि जी बहुत ही सरल प्रकृति के सन्त हैं। त्याग और तपस्या आपके जीवन की विशेषताएँ हैं। अपनी साधना में आप मग्न हैं।

जयपुर वर्षावास में पण्डित मिसरीमल जी मधुकर ने और मन्त्री श्री पुष्कर मुनि जी ने कवि जी से गणधरवाद का अध्ययन किया था।

मधुकर जी राजस्थान के प्रसिद्ध सन्तों में से एक हैं। स्वभाव के मधुर, प्रकृति के शान्त और मन के सरल सन्त हैं। संस्कृत और प्राकृत के आप विद्वान् हैं। मधुकर जी मधुर कवि हैं और लेखक भी। कवि जी के विचारों से आप बहुत ही अधिक प्रभावित हैं। आपने कवि जी के साथ में व्यावर से नाथद्वारा, चित्तौड़, भीलवाड़ा, विजयनगर, उदयपुर आदि की विहार-यात्रा भी की है। आपकी साहित्य साधना बहुत उर्वरा है।

मंत्री पुष्कर जी महाराज सरस मानस के सन्त हैं। स्नेह-सद्भाव और सहानुभूति—आपके मधुर जीवन की मधुरिमा है। आप मधुर भावों के प्रवक्ता हैं। कवि जी के प्रवचन-साहित्य का आपने खूब अध्ययन किया है। कवि जी के विचारों की आपके विचारों पर स्पष्ट छाप है। आप भी राजस्थान के प्रसिद्ध सन्तों में से एक हैं।

भीनासर सम्मेलन के बाद कुचेरा वर्षावास में पण्डित श्रीमल्ल जी महाराज ने कवि जी से बृहत्कल्प भाष्य, व्यवहार भाष्य और पञ्चाध्यायी जैसे आकर एवं मूर्धन्य ग्रन्थों का अध्ययन किया। पण्डित श्रीमल्ल जी का कवि जी महाराज से अनन्य स्नेह-सद्भाव है। श्रीमल्ल जी कवि जी के विचारों से बहुत ही अधिक प्रभावित हैं। आप मधुर प्रवक्ता हैं, समाज-सुधारक हैं। आपके विचार क्रान्तिकारी हैं। पुरातन रुढ़ियों को आप पसन्द नहीं करते। इन दिनों में आपने बहुत से

मननीय लेख लिखे हैं। आपका स्वभाव मधुर है, प्रकृति शान्त है और दृष्टि उदार है।

आगरा वर्षावास में प्रसिद्ध वक्ता पं० श्री सौभाग्यमल जी महाराज के सुयोग्य विद्वान् शिष्य मनोहर मुनि जी ने कवि जी से विशेषावश्यक भाष्य और सन्मतितर्क जैसे कठिन एवं आकर ग्रन्थों का अध्ययन किया। मनोहर मुनि जी लेखक और विचारक हैं। आपने साहित्यरत्न और शास्त्री परीक्षाएँ भी पास की हैं। आपकी लेखनी में प्रभाव और चमत्कार है।

आगरा वर्षावास में ही पण्डित कन्हैयालाल जी 'कमल' ने कवि जी की देख-रेख में शास्त्र-सम्पादन का काम किया था। उस समय आप कवि जी से आगम साहित्य पर तत्त्व-चर्चा करते रहते थे। कमल जी का आगम-ज्ञान और साहित्य-साधना प्रशंसनीय है। कमल जी मिलनसार व्यक्ति हैं। कुछ न कुछ करना, यह आपके जीवन का सुन्दर ध्येय है। जयपुर वर्षावास में भी आप कवि जी की सेवा में शास्त्र-सम्पादन कार्य करने के लिए ही आए थे।

कवि जी के अपने शिष्य विजय मुनि और सुरेश मुनि ने भी संस्कृत, प्राकृत, धर्म, दर्शन और आगम आदि विषयों का अध्ययन कवि जी महाराज से ही किया है।

राजस्थान, पंजाब और महाराष्ट्र जैसे सुदूर प्रान्तों की आर्याओं ने भी समय-समय पर कवि जी से अध्ययन, चिन्तन और विचार-चर्चा करके अपने ज्ञान की अभिवृद्धि की है। अनेक आर्याओं ने तत्त्वार्थ सूत्र, कर्म-ग्रन्थ और आगमों का भी अध्ययन किया है।

आगरा, दिल्ली, अम्वाला, फरीदकोट, जयपुर पालनपुर, अजमेर, कुचेरा और कानपुर के श्रावक एवं श्राविकाओं ने भी तत्त्वार्थ-सूत्र, कर्म-ग्रन्थ तथा अनेक आगमों का अध्ययन किया है। कवि जी ज्ञान की प्याऊ हैं। कोई भी जिज्ञासु आकर अपनी जिज्ञासा तृप्त कर सकता है। दूसरों को ज्ञान देने में कवि जी ने कभी भी प्रमाद नहीं किया है।

अध्ययन और अध्यापन—दोनों दृष्टियों से कवि जी का व्यक्तित्व अद्भुत, अनुपम और अद्वितीय रहा है। उन्होंने अपने श्रम से ज्ञान

पाया भी खूब है, तो उस संचित ज्ञान को बाँटा भी खूब है। उन्होंने अपने जीवन में अध्ययन भी खूब किया है, तो अध्यापन भी खूब कराया है। कवि जी का सम्पूर्ण जीवन ज्ञानमय है। ज्ञान की साधना ही उनकी अमर साधना है, जो युग-युग तक प्रकाश देती रहेगी।

व्यक्तित्व का आकर्षण :

कवि श्री जी के व्यक्तित्व में चुम्बक जैसा आकर्षण है, बिजली जैसी कौंध है और मेघ जैसी गर्जना। जो भी एक वार परिचय में आया, वह सदा के लिए उनका अनुरागी वन गया। उनके अनूठे और अद्भुत व्यक्तित्व के सम्वध में सुरेश मुनि जी का एक शब्दात्मक भाव-चित्र देखिए—

"कवि श्री जी के जीवन में ऐसी सौम्यता और निश्छलता है, जो उनके प्रति स्नेह एवं आदर दोनों ही उत्पन्न करती है। उनके मुख-मंडल पर एक अलौकिक आभा का प्रकाश खेलता रहता है, उनकी आँखों में जो वालोचित मुस्कान रहती है, वह कभी भुलाई नहीं जा सकती। और इनके पीछे से होकर सरलता तथा सच्चाई उनके स्पन्दनशील हृदय का परिचय देती है। हृदय और मस्तिष्क का सन्तुलन जितना उनमें दृष्टिगत होता है, उतना दूसरों में नहीं। वे इतने ख्यातनामा एवं प्रतिष्ठित सन्त हैं, पर मिथ्याभिमान उन्हें छू तक नहीं गया है। मात्सर्य का उनमें नितान्त अभाव है। उनके निकट वैठना मात्र ही एक प्रकार की सांस्कृतिक दीक्षा लेने के सदृश है। उनका व्यक्तित्व इतना निश्छल, इतना मधुर तथा इतना आकर्षणशील है कि वह वलात् हमें वहुत-कुछ सीखने के लिए अनुप्रेरित करता है। वस्तुतः प्रतिभा, ओज और गाम्भीर्य उनमें मूर्त हो उठे हैं। उनकी वुद्धि में जन्मजात प्रतिभा का प्रकाश है। उनकी वाणी तथा लेखनी में ओज है। उनकी प्रकृति में माधुर्य और गम्भीरता है। उनके स्वभाव में, उनके व्यवहार में, उनके रहन-सहन, वोल-चाल—सव कुछ में एक मधुर सौन्दर्य का आभास मिलता है। जिधर से भी वे निकल जाते हैं, उनका उज्ज्वल व्यक्तित्व जनगण-मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ता चला जाता है। जिस दिशा में भी वे बढ़ते चलते हैं, सफलता उनके चरण चूमती है। उनकी सफलता का रहस्य यदि दो शब्दों में वतलाया जा

सके, तो वह यह है कि—कवि श्री जी अपने प्रति, संघ के प्रति और साथियों के प्रति ईमानदार हैं, वफादार हैं। इसी बात पर क्या, नवीन और क्या प्राचीन—समाज के सभी तत्वों का उनके ऊपर पूर्ण विश्वास है।

कवि श्री जी आशा की एक जलती हुई ज्योति हैं।- उनके अन्तर्मन में सदा आशा का प्रकाश अठखेलियाँ करता रहता है। उनकी आत्मा आशा की आभा से जगमगाती रहती है। जीवन के किसी भी मोड़ पर, जीवन के किसी भी क्षण में हताश, निराश अथवा अधीर होना उन्होंने कभी सीखा ही नहीं। सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर एक सज्जन ने प्रश्न किया था—"सम्मेलन की सफलता के विषय में आप आशावादी हैं या निराशावादी ?" कवि जी ने तत्काल उत्तर दिया—"सौ में सौ टका आशावादी।" एक सच्चे समाज-सुधारक का यह एक मौलिक गुण है। कवि जी की दृष्टि में भय ही एक अपराध, और अक्षम्य पाप है! "आशा मानव की परिभाषा"—यह उनका जीवन-सूत्र है।

कवि श्री अमरचन्द्र जी महाराज के जीवन में एक क्रांतिकारी नेता के लिए आवश्यक सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। अपने आदर्श और लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठ श्रद्धा, निर्भयता, प्रत्युत्पन्न बुद्धि, अद्भुत कार्य-क्षमता और समाज, संघ और साथियों के प्रति वफादार—ये सब विशेषताएँ उनमें कूट-कूटकर भरी हैं। निर्भयता तथा स्पष्टवादिता के कारण अपने क्रान्त, न्याय और जलते हुए विचारों को दबाना, छुपाना या कहते हुए दाएँ-बाएँ झाँकना उन्होंने कभी जाना ही नहीं।"

बहुमुखी कृतित्व

कवि जी की काव्य-साधना

"कविता जीवन की व्याख्या है", आज इस सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं रह गई है। 'सुन्दर को असुन्दर से पृथक् करना, सौन्दर्य की झाँकी लेना और उसका रस प्राप्त करना'—कविता के लिए 'वाल्टर पेटर' की समीक्षा भी इसी वात की पुष्टि करती है। जीवन का कोई तात्त्विक विरोध नहीं पैदा करती। रही सत् की खोज, सो सत् की प्रेरणा मनुष्य-मात्र के हृदय की स्वाभाविक वृत्ति है। मनुष्य-मात्र सदाचार, सद्धर्म, सुप्रवृत्ति आदि से तृप्त होता है और उसके विपरीत गुणों से उसे घृणा होती है। मनुष्य की मानसिक-तृषा शान्ति के लिए उसे सुप्रवृत्तियों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती है। इस अवस्था में हम कविता को मानव अन्तःकरण का प्रतिविम्व मानकर उसे 'सत्' से पृथक् नहीं मान सकते। और जो 'सत्' है, वही 'शिव' और 'सुन्दर' भी है।"

जीवन की व्याख्या द्वारा कविता का निर्माण वताकर कवि 'अमर' ने जीवन के प्रत्येक पहलू पर कविताओं की रचना की है। उनकी कविताओं में हमें एक जैन मुनि होने के नाते केवल धर्म-प्रेम ही नहीं मिलता, वल्कि एक महान् कवि की कल्पनाओं का द्योतक राष्ट्र-प्रेम, जाति-प्रेम तथा मानव-प्रेम, सभी कुछ मिल जाता है। उनकी कविताएँ जन-जागृति का सन्देश अपने कलेवर में समेटे हुए हैं। युग-युग से परतंत्रता की वेड़ियों में जकड़ी हुई भारतमाता को वन्धन मुक्त कराने के लिए कवि की आत्मा मानो चीत्कार कर उठी हो। भारत की पिछड़ी हुई दशा देखकर कवि का हृदय द्रवित हो उठा हो, भारत की

अमर संस्कृति मानो आज ज्योतिहीन होकर अंधकार में भटक रही हो, और ऐसे समय में कवि भारत माँ के लालों को जगाकर भारत में नव-जीवन फूँक देना चाहता हो—कवि की कविता का सारांश है। क्योंकि कवि ने एक काव्य की रचना में पूर्व खुद ही लिखा है—"कविता अन्तःप्रेरणा है, उसका उद्देश्य है—जन-मन को जागृत करना।" और उन्हीं भावनाओं के वशीभूत होकर कवि ने गीत लिखे हैं, और अन्ततः कवि अपने प्रयास में सफल रहा है। कवि श्री जी के गीतों को एकान्त में बैठकर आध्यात्मिकता के साथ गुनगुनाने में उनका तथ्य समझ में आता है और कवि श्री जी ने ऐसे ही साधकों के लिए गीतों की रचना की है।

कवि जी के काव्य का प्रबल पक्ष तो अध्यात्मवाद ही है। भगवान् महावीर की महिमा तथा स्तुति में यद्यपि 'अमर-काव्य' भरा हुआ है, तदपि उसमें जीवन के पहलुओं की व्याख्या भी बड़े रोचक ढंग से मिलती है। कवि श्री जी के काव्य-ग्रन्थों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'धर्मवीर सुदर्शन', 'अमर माधुरी', अमर जैन-पुष्पांजलि' आदि प्रमुख हैं। कवि श्री का एक काव्य-संगीत प्रधान काव्य 'संगीतिका' भी बड़ा लोक-प्रिय रहा है।

कवि श्री जी ने मानव-जीवन में अहितकर वस्तुओं का सर्वथा निषेध बताया है। मानव-जीवन एक अमूल्य देन है, किसी अदृश्य शक्ति की ओर उसका दुरुपयोग करने का मानव को कोई अधिकार नहीं। मद्य-निषेध, भंग-तमाखू-हुक्का आदि समस्त नशीली वस्तुओं का त्याग बताते हुए अमर कवि ने सब के ऊपर गीत लिखे है। आधुनिक युग में चाय का सेवन निषेध बताकर यद्यपि कवि ने आधुनिक समाज को चैलेन्ज-सा कर दिया है, किन्तु नीचे की टिप्पणी में यह कहकर उसका स्पष्टीकरण भी किया है कि चाय में 'थीन' नामक और काफी में 'फिन' नामक जहर होता है, अथवा डा० स्मिथ की परिभाषा है—"चाय पीने से शरीर की गर्मी कम हो जाती है, गुर्दे की गति बढ़ जाती है। अधिक मात्रा में चाय पीने से आदमी बेहोश हो जाता है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।" इन निषेधों की झलक कवि श्री जी के गीतों में इस प्रकार मिलती हैं।

"पाते दुख वेतोल शरावी"

× × ×

"वहुतेरी पीलई रे अव मत पीवो भंग"

× × ×

"प्यारे वतन को चाय ने वरवाद कर दिया"

× × ×

"तमाखू पीते हैं नादान"

× × ×

"वुरा है यह हुक्का कभी भी मत पीना ॥"

अमर-काव्य की सर्वाधिक सफलता का दिग्दर्शन हमें उनके देश-प्रेम अथवा देशी वस्तुओं के प्रेम में मिलता है। भारत की महानता का वर्णन करके कवि ने अपने आप को धन्य कर लिया है। विचारों को अपने महाप्रांगण में समेटे हुए अमर मुनि ने वास्तव में एक महाकवि का प्रतिनिधित्व-सा कर दिया है।

भारत की प्रधानता का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

"भारत है सरदार अहा, सव देशों का"

अथवा

खादी की धवल चाँदनी में कवि ने कुछ जोड़ देने का सफल प्रयास किया है—

"अहा, वढ़ी-चढ़ी सवसे खादी, सवसे आदी, सब से सादी,
शुद्ध धवल है आनन्दकारी, जैसे चन्दा अरु चाँदी।"

"सुखी हिन्द को यह वनाएगा खद्दर,
गुलामी से सवको छुड़ाएगा खद्दर।"

अथवा

विदेशी माल को अर्थहीन करते हुए कवि लिखता है—

"विदेशी माल से रे हो गया हिन्द वीरान"

कवि श्री जी ने अहिंसा के मार्ग को सर्वश्रेष्ठ वताते हुए गांधीवाद का तथा कांग्रेस के नम्र दल का पूर्ण समर्थन किया है। परतंत्रता की

बेड़ियों से तृषित माँ को स्वतंत्र करने का बस एक ही तरीका है, वह है—अहिंसा।

"अहिंसा ही दिलाएगी हमें स्वाधीनता प्यारी"

भारतवर्ष की महान् संस्कृति ने आदि-काल से ही गऊ को माँ माना है, किन्तु आधुनिक युग का मानव माँ का हत्यारा बनकर अघोर कर्म कर रहा है। नित्य ही कितनी ही गऊ माताओं की नृशंस हत्या की जा रही है गोवध होते हुए भारत-उन्नति की कल्पना भी एक-दम व्यर्थ है, और इसके चालू रहते हुए मानव-मात्र का कल्याण नहीं है। कवि ने अपने गीतों में प्रस्तुत प्रश्न पर भी पूरा विचार किया है—

"दूर जब तक हिन्द से होगी न गोवध की प्रथा,
उन्नति की तब तलक आशा न बिल्कुल कीजिए।"

अमर काव्य में समाज-सुधार की भावना :

महाकवि अमर एक सच्चे साधक, कंटकमय पथ पर चलने वाले जैन मुनि तथा एक महाकवि होने के साथ-साथ समाज-सुधार की भावनाएँ भी अपने आप में संजोए हुए हैं। वे एक महान् समाज-सुधारक हैं, भारत से पाखण्ड को दूर भगाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

कवि ने अपने कविता-कुंज में बाल-विवाह का सर्वथा निषेध बतलाया है। वास्तव में बाल-विवाह की प्रथा आधुनिक युग का एक अभिशाप है। बाल-विधवाओं का करुण क्रन्दन आज मानव हृदय को इस प्रथा को समूल नष्ट कर देने के लिए विवश कर रहा है। कवि के विचार भी देखिए—

"धर्मवीरो बाल-वय में ब्याह करना छोड़ दो।
इस विषैली कुप्रथा पर अब तो मरना छोड़ दो।।"

साथ-साथ कवि वृद्धों को भी सम्बोधन करता है कि उन्हें भी विवाह नहीं करना चाहिए—

"बुढ़ापा है, अब तो न शादी कराओ"

कुछ और भी।

"बना के वहू हाय बेटी-सी कन्या,
न भारत में अब विधवाएँ बढ़ाओ!"

अमर कवि की प्रस्तुत कविताएँ उस समय का प्रतिनिधित्व करती हैं, जब कि भारत में जमींदारी उन्मूलन नहीं हुआ था और जमींदारों का नैतिक पतन अपनी चरम सीमा पर था—गरीब जनता की गाढ़ी कमाई पर ऐश करने वाले ये जमींदार सुरा-सुन्दरी की भेंट चढ़ चुके थे। किसी भी शादी में वेश्याओं के नाच के विना उसे अधूरा माना जाता था, और वेश्या के नाच से उस समय के धनिक समाज की इज्जत में चार चाँद लग जाते थे। उस समय आवश्यकता थी ऐसे समाज-सुधारकों की जो मानव-मात्र को इस विषैले नरक से निकाल कर सन्मार्ग का प्रदर्शन करें। प्रस्तुत प्रश्न पर कवि जी ने अपने कविता-सागर में बहुत कुछ लिखा है—

"व्याहों में रंडियों का अच्छा नहीं नचाना,
राष्ट्रीय शक्ति को यों अच्छा नहीं घटाना।"

गांधीवादी विचारों से पूर्ण सहमत कवि अमर ने दलितों तथा शूद्रों को सम्मान का रूप दिया है—

"शूद्र की मुक्ति नहीं, अफसोस है क्या कह रहे!
वीर की तौहीन है, यह सोच लो क्या कह रहे !!"

× × ×

"अछूतों को अब तो मिलालो, मिलालो।
घृणा इनसे अब तो हटालो, हटालो॥"

अमर काव्य में नारी-भावना :

अमर कवि-काव्य में एक ऐसी सोती हुई नारी की कल्पना का दिग्दर्शन हुआ है। कवि की सारी नारी-भावना इसी सोती हुई नारी को जगाने के लिए लीन रही है। अमर-काव्य में नारी के लिए कोई शृङ्गारिक भावना नहीं है, अथवा अन्य कवियों की तरह उनकी कविता की प्रेरणा नारी नहीं है—जैसे कि हम महाकवि पन्त के भावों में उनकी समस्त कोमल भावनाओं का केन्द्र नारी को ही देखते हैं अथवा प्रसाद काव्य की नारी, जो कि श्रद्धा है—मनु को अपनी शृङ्गारिकता की ओर आकर्षित करती है, किन्तु अमर-काव्य की नारी तो महान् है—पूज्य है, किन्तु इस समय सोई हुई है और कवि उसे जगा रहा है—द्वेष-भाव दूर करने को कह रहा है—

"द्वेष-भाव कर दूर, हमेशा मिलजुल करके रहना"

× × ×

"देवी वन के धरम को दिपाया करो"

कवि जी नारी को ढोंग आदि छोड़ देने के लिए उपदेश भी देते हैं—

"अब तो सेंढ़ शीतलाओं का पिण्डा छोड़ो"

कवि देवियों को जगा रहा है—

"देवियो ! जागो-उठो, अब छोड़ दो आलस्यता"

आधुनिक जैन-नारी को जगाने के लिए कवि ने जैन इतिहास की अमर नारियों का भी विवेचन किया है। उन महानारियों के वर्णन में हमें महादेवी सुमित्रा (रामायण के नायक राम की चाची), देवी सीता, कुन्ती, द्रौपदी, सिंहिका सत्यवती, रूपरानी पद्मावती, दुर्गा व लक्ष्मी आदि का वर्णन कवि अमर के काव्य में मिलता है। नारी-भावना को प्रदर्शित करने में कवि ने आधुनिक नारी की जागृत अवस्था का स्मरण नहीं रखा है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हम पाते भी यही हैं। कविता में कवि जी के नारी-सम्बन्धी विचार इस तरह हैं—

"भारत की नारी एक दिन देवी कहाती थीं,
संसार में सब ओर आदर-मान पाती थीं।"

× × ×

"भारत में कैसी थीं एक दिन शीलवती कुल-नारियाँ,
धर्म-पथ पर जो हुई हँस-हँस के वलहारियाँ।"

कवि अमर की नारी-भावना का उज्ज्वल स्वरूप हमें कवि जी के बृहत् जीवन-गाथा काव्य "सत्य हरिश्चन्द्र" में मिलता है। देवी तारा का उज्ज्वल चरित्र कवि ने लिखा है, और कवि सन्देह करता है नारी पर—

"नारी क्या कर्त्तव्य-भ्रष्ट ही—
करती जग में मानव को !
देश-जाति के जीवन में क्या,
पैदा करती लाघव को ?"

कवि ने उस महानारी का चित्र अपने काव्य में खींचा है, जो

पति को राज्य-कार्य से अपने कारण विरक्त देखकर द्रवित हो उठती है और फिर सादगी से जीवन व्यतीत करने लगती है। और उस महानारी से आधुनिक नारी की तुलना करते हुए कवि ने लिखा है—

"आज नारियाँ अपने पति को, मोह-पाश में रखने को,
करती क्या-क्या जादू-टोने, गिरा गर्त में अपने को।
कहाँ पूर्व युग तारा देखो, निष्कलंक पथ पर चलती,
स्वयं भोग तज पति के हित, दृढ़-त्याग साधना में ढलती।"

एक पतिव्रता पत्नी के रूप में तारा को कवि ने महान् माना है। पति हरिश्चन्द्र के वन-गमन पर तारा कह उठती है—

"निर्जन वन में कहाँ भटकते होंगे मेरे प्राणाधार !"

जिस प्रकार गुप्त जी द्वारा चित्रित नारी यशोधरा और उर्मिला पति-वियोग में उन कुंजों और लताओं को याद करके बहुत रोती हैं, जहाँ अपना समय उन्होंने पति के साथ बिताया था, उसी प्रकार अमर काव्य की नारी तारा भी रोती है—

"यही कुंज है, जिसमें पति के संग अनेकों दिन बीते।"

× × ×

"आज वही सुख-कुंज, कुंज हा ! मुझे काटने आया।"

तारा की विरह-व्यथा का चित्रण करने में कवि को खूब सफलता मिली है।

"पतिदेव आज तुम कहाँ, दिल मेरा बेकरार है।"

और रानी विरह की अन्तिम अनुभूति का शिकार हो जाती है।

"रानी के दुखित अन्तर में लगी उमड़ने शोक घटा,
मूर्च्छा खाकर पड़ी भूमि पर जैसे जड़ से वृक्ष कटा।"

× × ×

साम्राज्ञी तारा अपने पति को किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ सकती, क्योंकि वह वीर क्षत्रिय बाला तथा भारत की नारियों का प्रतिनिधित्व कर रही है। देखिए—

"डरने की क्या बात आपकी दासी हूँ मैं भी स्वामी।
वीर क्षत्रिया बाला हूँ मैं श्रीचरणों की अनुगामी।"

नारी में पुरुष से अधिक सहन-शक्ति का परिचय कवि के काव्य में चित्रित है। यह नारी दुःख के कारण जीवन से हारने वाली नारी नहीं है। उसकी कष्ट-सहिष्णुता को देखिए—

"किन्तु नाथ क्या दुःख के कारण जीवन से मर मिटना है"

जिस प्रकार रामायण की नायिका सीता वन में चौदह वर्ष तक रही है। केवल पति-सेवा के लिए उन कंटकमय मार्गों को भी फूल समझकर वहाँ चली है; उसी प्रकार एक विशाल राज्य की साम्राज्ञी 'तारा' भी भारत की अतीत नारियों का अनुसरण करती है। और इसी उच्चतम नारी को स्वयं उसके पति से धन्य-धन्य की ध्वनि का विवरण कवि जी के काव्य में है। देखिए सम्राट् हरिश्चन्द्र क्या कह रहे हैं—

"तारा तुम हो धन्य सर्वथा, धन्य तुम्हारे मात-पिता"

× × ×

"शिक्षा लेंगी तुमसे आगे आने वाली महिलाएँ,
विकट परिस्थिति में भी पति के चरणों पर कैसे जाएँ।"

अथवा

एक पतिव्रता नारी का चित्रण अमर काव्य में इस भाँति हुआ है—

"पतिव्रता पति-हित ठुकराती स्वर्गों का भी सुख प्यारा"

अमर काव्य में हमें गुप्त जी के विचार—"पति ही पत्नी की गति है"—का भी सजीव चित्रण मिलता है।

"आप एक असहाय दुःख की, ठोकर खाएँ दर-दर की।
मैं महलों में मौजें लूटूँ, मखमल के गद्दों पर की॥"

भारत की अतीत नारी को राजा पति के साथ रानी, और मजदूर पति के साथ मजदूरनी होने का गौरव देखिए—

"मैं अर्द्धाङ्गिनी स्वामी की हूँ, वे राजा थे मैं रानी।
आज बने मजदूर, बनूँ मैं मजदूरनी तो क्या हैरानी?"

अमर काव्य में मानव :

यों तो अमर काव्य में हमें सर्वत्र मानव-सन्देश का दिग्दर्शन मिलता है। कवि ने मानव से भगवान् की आराधना में लीन हो जाने

को कहा है, किन्तु फिर भी मानव-चरित्रों में कवि के काव्य 'राजा हरिश्चन्द्र' का विस्तृत वर्णन मिलता है, और मानव के लिए कवि की समस्त कल्पनाएँ हरिश्चन्द्र में प्रस्तुत हैं। हरिश्चन्द्र से शिक्षा दिलाकर कवि मानव-कल्याण की कल्पना करता है। कवि ने हरिश्चन्द्र का परिचय इस प्रकार दिया है—

"हरिश्चन्द्र थे सत्य के व्रती एक भूपाल"

कवि ने अपने काव्य का माध्यम उस महापुरुष को बनाया है, जिसकी यश-चर्चा इन्द्र की सभा में होती थी—

"हरिश्चन्द्र तो सत्य मूर्ति है, नहीं मनुज वह साधारण"

अमर कवि ने मानव के रूप में एक ऐतिहासिक महापुरुप, सफल साधक, न्यायोचित सम्राट्, एक विनयशील पुरुष का अङ्कन किया है। उनकी लेखनी से उस महापुरुष का चरित्र अत्यधिक सुन्दर बन पड़ा है। कवि जी ने मानव-मन की प्रत्येक भावनाओं का बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है। देश, काल एवं परिस्थितियों का ध्यान रखकर शब्द-चयन की जिस शक्ति का परिचय हमें अमर-काव्य में प्राप्त हुआ है, अन्यत्र यह कुछेक कवियों में ही मिलता है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र से कोई भारत-वासी अनभिज्ञ नहीं। केवल सत्य और अहिंसा की रक्षा के लिए राज्य का त्याग कर हरिश्चन्द्र ने भगवान् राम के अयोध्या-त्याग का स्मरण हमें करा दिया है। राम की अयोध्या नगरी में हरिश्चन्द्र राजा हुए, उस सरयू के तीर पर उन्होंने अपने शैशव के मधुर स्वप्नों को साकार किया और फिर राम की ही तरह अयोध्या का परित्याग भी हरिश्चन्द्र ने किया—कितना साम्य है दोनों महापुरुषों में। अतः निर्विवाद कहना पड़ेगा कि अपने काव्य का नायक चयन करने में कवि जी की जो प्रतिभा हमें मिलती है, वह अद्वितीय है। उनके काव्य का नायक वह महापुरुष है, जिसमें मानव की समस्त प्रवृत्तियाँ भरी पड़ी है।

अच्छे पात्रों का चित्रण करते समय कुछ खल-पात्रों की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि यह तो निर्विवाद सत्य ही है कि असुन्दर के बिना सुन्दर-वस्तु अर्थहीन है—दुःख के बिना सुख अकल्पित है, उसी प्रकार अच्छे पात्रों के चित्रण के साथ खल-पात्र भी आवश्यक हैं, उनके द्वारा अच्छे पात्रों का चित्रण बड़ा सुन्दर बन जाता है। कौशिक मुनि 'सत्य हरिश्चन्द्र' के ऐसे ही पात्र के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हैं।

अमर-काव्य का महामानव हरिश्चन्द्र राजनीति का एक मंजा हुआ योद्धा भी है, और इसी धारणा के वशीभूत होकर कौशिक ऋषि भी मन ही मन परास्त है—

"हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर कौशिक ऋषि कुछ घबराए,
मानस-नभ में उमड़ विकल्पों-संकल्पों के घन छाए।"

दानी हरिश्चन्द्र ने पल भर में अपना राज्य ऋषिवर को दान में दे दिया—वही राज्य सिंहासन जिसके लिए आज का विश्व अशान्तमय दीखता है और अणुवम की तैयारी करता है। विश्व-युद्ध की सम्भावनाएँ आज इन्हीं राज्यों के कारण संसार में व्याप्त हैं, किन्तु अतीत भारत के महापुरुष राजाओं ने जिस सहृदयता के साथ इन राज्यों को तिलांजलि दी, वह वास्तव में अमर है। हरिश्चन्द्र के राज्य-दान को कवि जी ने अपने गीतों में इस प्रकार उतार दिया है—

"माँग विकट क्या तुच्छ राज्य है, अभी समर्पण करता हूँ,
तन माँगे तो इसको भी मैं देने का दम भरता हूँ।"

अमर कवि ने वीर पुरुषों की तथा कायर पुरुषों की परिभाषा को कुछ इस प्रकार बताया है—

"मानव जग में वीर पुरुष ही नाम अमर कर जाते हैं,
कायर नर तो जीवन-भर बस रो-रोकर मर जाते हैं।
वीर पुरुष ही रण में तलवारों के जौहर दिखलाते,
मातृ-भूमि की रक्षा के हित जीवन भेंट चढ़ा जाते।"

× × ×

"वह कायर क्या देंगे जो मरते हों कौड़ी-कौड़ी पर,
खाते-देते देख अन्य को, जो कंपते हों थर ! थर ! थर !"

कौशिक ऋषि का कर्ज देने के लिए हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी को बेचा तथा वे खुद बिके, परन्तु उनका साहस नहीं गया।

"धर्मवीर नर संकट पाकर और अधिक दृढ़ होता है,
कन्दुक चोट भूमि की खाकर दुगना उत्प्लुत होता है।"

भङ्गी के यहाँ बिक कर, दास बनकर भी हरिश्चन्द्र का सत्य धर्म-पालन कम नहीं होता है—

"हरिश्चन्द्र भी बन गए भङ्गी के घर दास,
किन्तु न छोड़ा सत्य का अपना दृढ़ विश्वास।"

अमर कवि की काव्य-धारा में उस समय का वर्णन निश्चय ही बड़ा रोचक हुआ है, जबकि हरिश्चन्द्र पर दुःख पड़ते हैं। इस वर्णन में बड़ी स्वाभाविकता है, यदि सहृदय पाठक ध्यान देकर इन वर्णनों को पढ़ें, तो स्वतः ही उनके अश्रु प्रवाहित हो जाएँगे। वास्तव में यह कवि की महान् सफलता है। कवि की सफलता तो इसी में निहित है कि वह मानव-मन में कहाँ तक गहरा उतरता है। अमर कवि का काव्य इस दृष्टि से खरा उतरा है।

कल का अयोध्या का राजा आज चांडाल है, किन्तु फिर भी वह अपना धर्म नहीं छोड़ता है।

"पाठक यह है वही अयोध्या कौशल का अधिपति राजा,
बजता था जिसके महलों पर नित्य मधुर मंगल बाजा।
आज बने चांडाल किस तरह करते मरघट रखवाली,
मात्र सत्य के कारण भूपति ने यह विपदा है पाली।"

रोहित सर्प के काटने से मृत्यु को प्राप्त होता है और तारा उसके पार्थिव शरीर को लेकर श्मशान जाती है, जहाँ उसके पास कफन तक नहीं, और ऐसे समय में हरिश्चन्द्र का धैर्य तथा सत्य परीक्षा योग्य है। वह अपने पुत्र की मृत्यु पर भी कपन माँगता है और उसके बिना उसके दाह की आज्ञा नहीं देता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कवि जी ने मानव के चित्रण में हरिश्चन्द्र का चरित्र हमारे सम्मुख रखकर उसकी जीवन-गाथा को अपने काव्य सरोवर में खिलाकर एक कुशल कवि तथा साहित्यकार होने का परिचय दिया है अथवा अपने प्रयास में कवि जी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

अमर काव्य में महावीर स्तुति :

अमर मुनि ने अपने काव्य में भगवान् महावीर को जगत-गुरु का सम्बोधन दिया है और इन्हीं विचारों में लिखी हुई उनकी पुस्तक "जगत्-गुरु महावीर" हमारे सम्मुख प्रस्तुत है। कवि जैनियों को "वीर स्वामी" भजने के लिए आह्वान करता है—

"जैन वीरो सब भजो उस वीर स्वामी को सदा,
ध्यान में रखो उसी के सद्गुणों को सर्वदा।"

जिस प्रकार हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य सूरदास ने बालकृष्ण का मनोहारी वर्णन करके शेष, सुरेश और नरेश आदि सभी को कृष्ण-भक्त बनाया है, वही भाव अमर काव्य में हमें प्रस्तुत पद्य में मिलते हैं—

"शान्ति सुधा-रस के वर सागर,
क्लेश अशेष, समूल संहारी।
लोक, अलोक विलोक लिए,
जग लोचक केवल-ज्ञान के धारी,
शेष सुरेश नरेश सभी,
प्रण में पद पंकज वारम्वारी।
वीर जिनेश्वर, धर्म जिनेश्वर,
मंगल कीजिए, मंगलकारी।"

कवि श्री जी भगवान् महावीर को विश्व-वन्दनीय कहते हैं। भगवान् महावीर महान् थे, संसार की क्षण-भंगुरता को देखकर उन्होंने राजपाट, घर-द्वार आदि सब का त्याग किया। उसी विश्ववन्दनीय वीर की आवाज को कवि जन-जागृति का माध्यम बनाता है—

"क्रान्ति का बजा के सिंहनाद धीर गर्जना से,
आलस्य संहार देश सोते से जगाया है।"

संसार में कवि श्री जी केवल भगवान् महावीर को ही एकमात्र आधार मानते हैं—

"प्रभो वीर! तेरा ही केवल सहारा,
जगत में न कोई शिवंकर हमारा।"

भगवान् महावीर के समय की परिस्थितियों का वर्णन कवि ने "जगत्-गुरु महावीर" में किया है। भगवान् महावीर ने अत्यन्त अशान्ति, घोर अराजकता के युग में जन्म लेकर मानव मात्र को शान्ति का सन्देश दिया था। उनके समय की परिस्थितियों में उनके धर्म-प्रचार, विश्व-मैत्री, विश्व-बन्धुत्व आदि की भावनाओं का मानव हृदय पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। कवि ने उस समय की परिस्थितियों का वर्णन इस प्रकार किया है—

"यज्ञों में नित्य ही लाखों पशु मारे जाते थे,
हा ! हा ! मनुष्य भी घाट असि के तारे जाते थे।
जलते अनल कुण्डों में जिन्दा डाले जाते थे,
नित्य शोणित के वहाए नाले जाते थे।
झंडा अहिंसा धर्म का दिश-दिश में लहराया,
श्री वीर ने आ हिन्द को सोते से जगाया॥"

कवि ने भगवान् महावीर को जिनेन्द्र, अर्थात्—जिन्होंने इन्द्रियों का दमन कर दिया हो, कहा है और उन्हें वन्दन करते हुए कवि ने लिखा है—

"जय जिनेन्द्र विनम्र वन्दन पूर्णतया स्वीकार हो,
दीन भक्तों के तुम्हीं सर्वस्व सर्वाधार हो।"

कवि ने उस समय की भी कल्पना की है, यदि भगवान् महावीर हमारे वीच में न आए होते—

"अगर वीर स्वामी हमें न जगाता,
तो भारत में कैसे नया रङ्ग आता ?"

कवि ने हम सव को महावीर स्वामी का सैनिक वताया है और भगवान् से प्रार्थना की है कि जव हमारे प्राण इस तन से निकलें, तव हम प्रसन्न हों तथा हमारे सम्मुख विश्व के ऊँचे आदर्श हों।

कवि ने उन महावीर भगवान् की स्तुति की है, जिनके आगमन से विश्व की तस्वीर वदल गई है। उद्दण्डता के साम्राज्य में जन्म लेकर, घोर हिंसा-काल में अवतरित होकर भी भगवान् महावीर ने ये सारे दुष्कर्म दूर करा दिए थे। ये वही वीर जिनेश्वर हैं, जिन्होंने सोते हुए संसार को जगा दिया था। और इसीलिए कवि श्री जी ने लिखा है—

"महावीर जग स्वामी, तुमको लाखों प्रणाम !"

और इसीलिए कवि वीर जिनेन्द्र का सच्चा भक्त वनना चाहता है। और एक जैन मुनि होने के नाते जगत् में वीर-प्रभु के गीतों को गाने का भी सारा भार कवि ने अपने ही ऊपर ले लिया है।

भगवान् महावीर की स्तुति में कवि श्री जी ने स्फुट गीतों की रचना की है, जिन्हें नित्य गुनगुनाने से मन कल्याणकारी कार्यों में लगता है।

अमर काव्य में मनस्तत्त्व :

सफल कवि की सफलता का रहस्य उसके दर्शन-वर्णन अथवा आध्यात्मिक भावों में छिपा रहता है। आध्यात्मिक भावों का चित्रण ही कवि की आत्मा का प्रतिविम्ब होता है। संसार की असारता का वर्णन ही कवि के काव्य का चरम लक्ष्य होता है। आत्मा-परमात्मा की विशुद्धि के सफल चित्र ही दार्शनिक भाव हैं, और इन भावों का सफल चित्रण उसी कवि की सामर्थ्य है, जिसने इस असार संसार से मोह-बन्धन तोड़ दिया हो, जिसे संसार एक चित्रपट की भाँति लगता हो, जहाँ जीवन के चित्र अंकित होते हैं—धूमिल पड़ते हैं और समाप्त हो जाते हैं। जिसने इस संसार के परिवर्तन को समझ लिया है। जिसने जन-जीवन से कुछ ऊपर उठकर आत्मा में झाँका है और उसे परमात्मा का ही एक स्वरूप पाया है। अमर कवि एक जैन मुनि हैं, जीवन-भर कण्टकमय पथ अपनाते हुए भी हँसते रहे हैं, जिनका जीवन ही सांसारिक मोह त्याग कर धर्म-प्रेम में लीन हो गया है। ऐसे जैन मुनि, जो संसार में रहते हुए भी उससे विरक्त हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा में झाँक कर जीवन का स्वरूप ही वदल डाला है—ऐसे त्यागी कवि की लेखनी दार्शनिक तत्त्व अथवा आध्यात्मिकता में कितनी रमी होगी—अकल्पित है। आध्यात्मिकता का सच्चा भाव हमें इन्हीं कवियों की काव्य विभूतियों में मिल सकता है—इसे हम अमर-काव्य का निचोड़ कह सकते हैं। क्योंकि अपने गीत कविवर ने उन्हीं साधकों को अर्पित कर दिए हैं, जो आध्यात्मिकता के साथ गुनगुना सकें।

दर्शन के उदाहरण अमर-काव्य में भरे पड़े हैं। उन्हें गीतों के रूप में कवि ने विभिन्न भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया है। आत्मा को जगाने में कवि तल्लीन ही रहा है। कवि ने संसार के समस्त पुरुषों को अन्तर-जागरण के लिए आह्वान किया है। इस संसार में आत्मा मलिन होती है और इसको शुद्ध करने के लिए आत्मा को जगाना पड़ता है। इस संसार से मोह छोड़ना पड़ता है और यह किसी विरले के लिए ही सम्भव है।

एक हठीले मन के अन्तर्जागरण के लिए कवि यह लिखता है—

"हठीले भाई! जाग-जाग अन्तर में!"

अथवा

यहाँ कवि अन्तर्मन की आँखें खोलने की तैयारी में है—

"खोल मन ! अब भी आँखें खोल,
उठा लाभ कुछ मिला हुआ है, जीवन अति अनमोल !"

यहाँ कवि का तात्पर्य है कि सांसारिक कार्यों की ओर से रुचि हटाकर मन की आँखें खोलनी चाहिए, जिससे जीवन में मधु घुल जाए—वातावरण आध्यात्मिक हो जाए।

कवि श्री जी का एक भजन उपयुक्त उदाहरणों में बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। वे बार-बार मन को समझा रहे हैं, किन्तु मन मानता क्यों नहीं है, इसकी गति पागल की तरह क्यों हो गई है। बार-बार प्रभु-भजन प्रारम्भ करने पर भी उसमें मन क्यों नहीं लगता है ?

"मनवा ! तू नहीं मानत है !
पाप-पंक से दिवा-राति मम अन्तर सानत है ॥
प्रभु-भजन करने को बैठूँ तू खटपट निज ठानत है।
बार-बार समझाया फिर भी हठ अपनी ही तानत है ॥
विषय-भोग कटु विष मैं समझूँ तू मधु अमृत जानत है।
पागल ज्यों अविराम एक स्वर नित कीर्ति बखानत है ॥
जब लग जग-वन्दन जगपति का नहीं रूप पिछानत है।
तब लग 'अमर' मूढ़ तव सिर पर लख-लख लानत है ॥"

प्रस्तुत पद में हमें हिन्दी के ओजस्वी कवि कबीर के काव्य की झलक मिलती है, कवि ने बार-बार मन को कहा है कि तू इन सांसारिक बन्धनों में ही मत भटका रह। विषय-भोग तो कटु विष हैं, लेकिन यह पापी मन क्यों इनको मधु-अमृत समझता है। कवि ने यहाँ भाव प्रदर्शित किया है, मन के दो भावों का—जहाँ एक भाव भगवत्-भक्ति की ओर अग्रसर होता है, तो दूसरा उसे सांसारिक विषयों की ओर घसीटता है। मन की स्थिति बड़ी विचित्र है।

मूर्ख मन को कवि ने इस प्रकार समझाने का प्रयास किया है—

"मूर्ख मन कब तक जहाँ में अपने को उलझाएगा,
ध्यान श्री जिनराज के चरणों में कब तू लाएगा ?"

कवि ने आत्म-बल को भी बहुत महत्व प्रदान किया है—

"आतम बल सब बल का सरदार"

अथवा

सुकृत्य करने के लिए कवि ने मानव को इस तरह समझाया है—

"क्या पड़ा गाफिल सुकृत कर जिन्दगी बन जाएगी,
क्या करेगा कूच की जब भेरी ही बज जाएगी।"

संसार तरने के लिए एक उपयुक्त अवसर का निर्देश देते हुए कवि कहता है—

"तारना चाहे तो खुद को मौका है, अब तार ले,
इस असार शरीर से भी सार का भी सार ले।"

मिथ्या जगत् को कवि ने एक दस दिन का मेला बताया है, जिसमें मानव आता है, दुःख सहन करता है, माया का चेला बन जाता है, पाप करता है और फिर इस नश्वर शरीर को त्याग देता है। उसकी आत्मा उसके कर्मों के साथ एक अपरिचित लोक को प्रस्थान करती है और परमात्मा की किसी सत्ता में लीन हो जाती है—

"जगत में धरा क्या है दिन दस का मेला है,
समझ ले यह सारा झूठा झमेला है।"

संसार की क्षण-भंगुरता पर भी कवि ने अपने भाव व्यक्त किए हैं तथा मनुष्य किस प्रकार इस क्षण-भंगुरता के सम्मुख नतमस्तक है, इसका भी उत्तम दिग्दर्शन किया है—

"भीम जैसे बली फेंके नभ में गजेन्द्र वृन्द,
पार्थ जैसे लक्ष-वेधी कीर्ति जग जानी है।
राम-कृष्ण जैसे नर-पुङ्गव जगत-पति,
रावण की दैत्यता भी किसी से न छानी है॥
काल के आगे न चली कुछ भी बहाना बाजी,
छिनक में छार हुए रह गई कहानी है।
तेरे जैसे कीटाकार मूढ़ की बिसात क्या है,
करले सुकृत चार दिन की जिन्दगानी है॥"

अमर काव्य के बिखरे फूल :

'बिखरे फूल' शीर्षक से मैं कवि के उन गीतों तथा दोहों को प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ, जो जीवन के लिए उपदेश के रूप में कहे गए हैं अथवा कुछ घृणित आदतों का परिणाम इसमें व्यक्त है। कविवर 'सुभाषित' नाम से कुछ उपदेश जो मानव हित के लिए अति आवश्यक हैं, इस प्रकार दिए हैं—

"अकेला भूल करके भी नहीं अभिमान आता है,
भयंकर संकटों का संघ अपने साथ लाता है।
मूर्ख का अन्तःकरण रहता सदा ही जीभ पर,
दक्ष के अन्तःकरण पर जीभ रहती है प्रवर।
क्लेश नौका-छिद्र ज्यों प्रारम्भ में ही मेट दो,
अन्यथा सर्वस्व की कुछ ही क्षणों में भेंट दो।
भंग मर्यादा हुए पर दुर्दशा होती बड़ी;
बाग से बाहिर झुका तरु भी व्यथा पाता कड़ी।
उड़ रही थी व्यर्थ की गप-शप कि घंटा बज गया,
मौत का जालिम कदम एक और आगे बढ़ गया।
दुर्जनों की जीभ सचमुच ही नदी की धार है,
स्वच्छ सम ऊपर से, अन्दर से भीम-भय भंडार है।
छेड़िए तो उसको जिसका शस्त्र तीर-कमान है,
पर उसे मत छेड़िए जिसका शस्त्र जबान है।"

प्रस्तुत दोहों में कवि श्री जी की विद्वत्ता तथा काव्य-प्रेम का संकेत पग-पग पर मिल जाता है। कविवर ने 'अनेकान्त-दृष्टि' शीर्षक से कुछ अनुकूल चीजों की प्रतिकूलताओं का भी बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

"सरिता तट-वर्ती नगरों को,
रहता है आनन्द अपार।
किन्तु बाढ़ में वही मचाती,
प्रलय काल-सा हा-हाकार॥

अग्नि कृपा से चलता है सव,
पाक आदि जग का व्यवहार।
किन्तु उसी से क्षण-भर हा!
भस्म राशि होता घरवार॥"

एक शिशु का परिचय—उस शिशु का, जो नव-भारत की प्यारी सन्तान है, कवि इस प्रकार देता है—

"पूज्य भारत मातृ-भू की,
चाहती संतान हूँ मैं।
राष्ट्र मंडल जाति, कुल की,
जागती जी-जान हूँ मैं।
नव्य युग सर्जन करूँगा,
भूत-कण्ठ कृपाण हूँ मैं।
क्रान्ति रण का अग्र योद्धा,
विश्व का कल्याण हूँ मैं।"

दीपक, जो स्वयं जलकर भी विश्व को प्रकाशित करता है, वह भी अमर कवि-काव्य-गंगा में स्थान पा गया है—

दीपक! तू सचमुच दीपक है,
अपनी देह जलाता है।
तम परिपूर्ण नरक सम गृह को,
क्षण में स्वर्ग वनाता है।

कवि अमर ने अपने 'विखरे फूल' नामक शीर्षक से अद्वितीय अतिशयोक्ति भी लिखी हैं, जिनमें से कुछ को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

"सज्जनों के शीप पर संकट रहेंगे कितने दिन,
चन्द्र को घेरे हुए वादल रहेंगे कितने दिन?"

आधुनिक कालिज वातावरण से अवगत होकर तथा वहाँ की क्रियाओं से परिचय प्राप्त करके कवि ने लिखा है—

"कालिज में जा हिन्द की प्राचीन हिस्ट्री सीख लो,
निज पूर्वजों के वृत्त की खिल्ली उड़ाना सीख लो।

सैंकड़ों कीजे जतन पर पाप-कृति छुपती नहीं,
दाविए कितनी ही खाँसी की ठसक रुकती नहीं।"

लोभी मनुष्य की प्रकृति का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

"दान की भनक कान में पड़ते ही विदक पड़े,
मानो कोटि-कोटि विच्छू शीष पर विदक पड़े।
चमड़ी उतरवाले हँस-हँस काम पड़े,
दमड़ी न दाम नामे कभी दीन-हाथ पड़े।"

'धर्मवीर सुदर्शन' पर एक दृष्टि :

कवि श्री जी के जीवन गाथा काव्य-ग्रन्थों में 'धर्मवीर सुदर्शन' भी अपना अग्रगण्य स्थान रखता है। कवि जी ने चरित्र रूप में इस पुस्तक की रचना की है। इससे साधु तथा श्रावक—दोनों को अत्यधिक लाभ रहा है। प्रतुस्त पुस्तक के लिए सम्मति देते हुए श्रीमान् पंडित हरिदत्त जी शर्मा ने लिखा है—

"श्रीयुत मान्य मुनिवर श्री अमरचन्द्र जी की अमर कृति 'धर्मवीर सुदर्शन' को पढ़ने में काव्य तथा रसास्वादन की लहरी सुधा-सागर से उठने वाली लहरियों से कम नहीं है। यह कहना कहीं भी अनुचित न होगा। मैंने इसे निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि से देखा और पढ़ते समय अपनी सौहार्द्र भावना को एक तरफ रख कर इसके गुण-दोष विवेचन के लिए कसा तो यह अनुपम काव्य सुवर्ण उज्ज्वल ही नजर आया। यह मेरा हार्दिक भाव है। खड़ी-बोली की कविताओं का आज युग है। इस अमर-काव्य में भी खड़ी-बोली में कविता की गई है, साथ ही कोमल मति वाले धर्म के जिज्ञासुओं के लिए आत्म-भोजन की सामग्री भी दी गई है। यह पुस्तक धर्म के गहन ग्रन्थों की ग्रन्थियों से डरने वाले भावुक धर्मानुरागियों के लिए एक ग्रन्थ का काम करेगी। इस धर्म-ध्वंसक युद्ध में ऐसी ही शिक्षाप्रद पुस्तकों की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति में यह पुस्तक काव्य और धर्म—दोनों ही दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखेगी—यह मेरा विश्वास है।"

'धर्मवीर सुदर्शन' द्वारा कविवर ने जैन इतिहास के उस महा-चरित्र का चित्र खींचा है, जो अपने धर्म के बल पर मृत्यु का आलिंगन करते हुए भी सिंहासन प्राप्त कर गया था। जैन साहित्य के उस महा-

पुरुष का चित्रांकन जैन साहित्य के महाकवि द्वारा कैसा हुआ है—यह कहने की वात नहीं है। इसमें से वास्तविक सार तो इसे अध्ययन-मनन करने से ही लिया जा सकता है।

'धर्मवीर सुदर्शन' के लिए प्रेरणा कवि श्री जी को सुहृदय मुनिवर श्री मदन जी ने दी। रिवाड़ी के समीप किसी गाँव में होली के उत्सव पर मुनिवर को गन्दे गीत, गन्दे गाली-गलौज, गन्दी चेष्टाएँ, जो कुछ था—सव गन्दा ही गन्दा था, आदि देखने को मिले। कवि जी ने खुद लिखा है कि—"उत्सव के नाम पर सदाचार का हत्याकाण्ड हो रहा था।" और इन्हीं भारतीय गाँवों की भोली और अनपढ़ जनता को समझाने-बुझाने के लिए कवि जी ने 'राधेश्याम रामायण' के ढंग पर इस चरित्र ग्रन्थ का रचना-कार्य प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ में कवियों की परंपरा के अनुसार कवि श्री जी ने भगवान् महावीर को अभिवादन किया है और फिर काव्य का शुभ मुहुर्त्त कर दिया है।

मानव-मन का सार वताते हुए कवि ने सदाचार पथ को उत्तम आदर्श वताया है। सदाचार को कवि ने 'पतित-पावनी गंगा की निर्मल धारा' कहा है। इसके विपरीत आचरण को कवि श्री जी ने "नर-चोले में राक्षस-सा अधमाधम जीवन दिखलाया" वताया है। कवि जी के काव्य का आधार सदाचार है। और कवि ने पाठकों को सम्वोधन करके वहीं चलने को कहा है, जहाँ सदाचार की झलक मिले। इस तरह सेठ सुदर्शन की चम्पा नगरी के वर्णन में कवि ने मानो कलम तोड़ दी है तथा उनकी इस पंक्ति—"आओ मित्रो, चलें जहाँ पर सदाचार की झलक मिले"—में हिन्दी के राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त की—"संप्रति साकेत समाज वहीं है सारा" की झलक मिल जाती है।

धर्मवीर सुदर्शन का परिचय कवि जी ने इस प्रकार दिया है—

"उसी रत्न-नर माला में इक रत्न और जुड़ जाता है,
वीर सुदर्शन सेठ अलौकिक अपनी चमक दिखाता है।"

तथा

उसकी पत्नी को इस प्रकार सम्वोधन किया है—

"भाग्य योग से गृह-पत्नी भी थी मनोरमा शीलवती"

सुदर्शन सेठ एक सफल नायक, विश्वासपात्र मित्र, पत्नी-धर्म पालक पति थे और इसी कारण कामान्ध ब्राह्मणी के सम्मुख उन्होंने बड़े

चातुर्य से काम लिया तथा वहाँ अपने अपमान की चिन्ता नहीं की। ऐसे ही गम्भीर सज्जनों का परिचय कवि दे रहा है—

"सागर सम गम्भीर सज्जनों का होता है, अन्तस्तल,
पी जाते हैं विप-वार्त्ता भी चित्त नहीं करते चंचल।"

वसन्तागमन पर प्रकृति-चित्रण में कवि श्री जी के भावों में प्रसाद की 'कामायनी' की झलक देखिए—

अमर कवि—"रंग-मंच पर प्रकृति नटी के परिवर्तन नित होते हैं"
कामायनी—"प्रकृति सेज पर धरा-वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी"

कवि श्री जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण की झलक भी हमें 'धर्मवीर सुदर्शन' में मिल जाती हैं। वसन्तागमन पर कवि प्रकृति के बीच हँस पड़ा है। वास्तव में कवि की भावनाएँ कोमल होती हैं और प्रकृति-चित्रण इसका एक अङ्ग होता है। अमर-काव्य में प्रकृति-चित्रण का स्वरूप देखिए—

"शीतानन्तर ठाट-बाट से ऋतु वसन्त झुक आया है।
मन्द सुगन्धित मलय समीरण मादकता भर लाया है॥
छोटे-मोटे सभी द्रुमों पर गहरी हरियाली छाई।
रम्य हरित परिधान पहन कर प्रकृति प्रेयसी मुस्काई॥
रंग-विरंगे पुष्पों से तरु-लता सभी आच्छादित हैं।
भ्रमर निकर झंकार रहे वन-उपवन सभी सुगन्धित हैं॥
कोकिल-कुल स्वच्छन्द रूप से आम्र मंजरी खाते हैं।
अन्तर वेधक प्यारा पंचम राग मधुर स्वर गाते हैं॥
अखिल सृष्टि के अणु-अणु में नव-यौवन का रङ्ग छाया है।
कामदेव का अजव नशा जड़-चेतन पर झलकाया है।"

इसके पश्चात् कवि जी ने कुछ शरदागमन का भी वर्णन किया है। सुदर्शन नारी के मोह-पाश में फँसने वाला कापुरुष नहीं था। वह रानी के प्रेम प्रस्ताव को ठुकरा देता है—यह समझते हुए कि उसका परिणाम क्या होगा। उसको चंपा का राज-सिंहासन भी मिल जाता, किन्तु एक सच्चा जैन श्रावक होने के कारण उसने सिंहासन को भी लात मार दी, तिलांजलि दे दी और स्वयं अपने धर्म-पालन पर अडिग रहा।

उसके हृदय में जो सत्य की महिमा थी । [illegible]
दृढ़ता का परिचय दिया है—

"गिरे यदि इन्द्र का आसन [illegible],
न डिगा [illegible] ।
[illegible],
[illegible] ।
न कुछ जीवन की परवा है न कुछ मरने का डर दिल में,
मुसीबत लाख [illegible] मगर निज प्रण निभाएगा ।
मुझे मरना ही तो मरने सूली है [illegible] को,
प्रकट निज सत्य की महिमा सुदर्शन जी दिखाएगा ।"

रानी के रोष-स्वरूप सेठ को सूली की आज्ञा हो गई । किन्तु पतिव्रता सेठानी मनोरमा अपने पति पर पूर्ण विश्वस्त थी, उसने तुरन्त ही भगवान् भजन में अपना मन लगा दिया था ।

"सागारी संथारा अति ही दृढ़ता-पूर्वक ग्रहण किया ।
एकमात्र जिनराज भजन में अविचल निज मन जोड़ दिया ॥"

'धर्मवीर सुदर्शन' में कविजी के आध्यात्मिक भावों की भी सुन्दर झलक हमें देखने को मिलती है । अध्यात्म से राजा तो क्या, समस्त विश्व नत-मस्तक हो जाता है । हृदय के कुविचारों की शान्ति के लिए मानव-मन को अध्यात्म का ही सहारा लेना श्रेयस्कर है । इससे कुविचारों का नाश होता है और जीवन परमात्मा की लय में लीन हो जाता है । सेठ सुदर्शन भी सूली पर जाने से पहले कुछ ऐसा ही उपदेश जनता को देते हैं—

"राज तो क्या, अखिल विश्व भी नत-मस्तक हो जाता है ।
आध्यात्मिकता का जब सच्चा भाव हृदय में आता है ॥"

कवि ने उन महापुरुषों की वन्दना की है, जो मृत्यु का आह्वान भी हँसते हुए करते हैं, जिन्हें सत्य के पथ से मौत भी कभी नहीं डिगा सकती है । धर्मवीर सुदर्शन एक ऐसा ही साधक था और कवि ने उसकी निर्भीकता का वर्णन इस प्रकार किया है—

"जीवन पाने पर तो सारी दुनियाँ हड़-हड़ हँसती है ।
वन्दनीय वह जो मरने पर भी रखता मस्ती है ॥"

× × ×

"जनता की आँखों के आगे मौत नाचती-फिरती थी।
किन्तु सुदर्शन के मुख पर तो अखिल शान्ति उमड़ती थी॥"

सेठ सुदर्शन शूली पर चढ़ते हुए भी महामन्त्र परमेष्ठी का जाप करता जा रहा था। महामन्त्र परमेष्ठी के जाप से संसार के सारे बन्धन कट जाते हैं, और उसी के प्रताप से शूली भी सिंहासन बन गई। कवि श्री जी के काव्य में इस प्रसंग का बड़ा ही सरस, सुलभ और सुखद वर्णन हुआ है—

"स्वप्न-लोक की भाँति, लौह शूली का दृश्य विलुप्त हुआ।
स्वर्ण-खंभ पर रत्न कान्तिमय, स्वर्णासन उद्भूत हुआ॥
सेठ सुदर्शन बैठे उस पर शोभा अभिनव पाते हैं।
श्रीमुख शशि पर अटल शान्ति है, मन्द-मन्द मुस्काते हैं॥"

और इस दृश्य के साथ सुर बालाओं द्वारा सेठ पर पुष्प-वर्षा होती है। कितना मनोरम दृश्य होगा वह, और अमर-काव्य में उसका चित्रांकन इतना अद्भुत बन पड़ा है—मांनो कवि श्री जी किसी रूप में उस समय स्वयं वहाँ उपस्थित रहे हों।

यह सारा काण्ड रानी के कारण हुआ था, यह सर्व विदित हो ही चुका था। इस पर सेठ नृप से रानी के लिए क्षमादान माँग रहे हैं—

"अभय दान देकर रानी का मरण-त्रास हरना होगा।"

कवि ने उक्त स्थान पर प्राणदण्ड का निषेध बताकर क्षमा से उसकी कितनी अनुपम तुलना की है, यह द्रष्टव्य है—

"बोले श्रेष्ठी, प्राणदण्ड से क्षमा कहीं श्रेयस्कर है,
राजन्! प्राणदण्ड का देना अति ही घोर भयंकर है।"

और उस समय का वर्णन, जबकि राजा रानी के पास पहुँचते हैं, तो कवि के शब्दों में खुद लेखनी भी लिखने में असमर्थ रही है।

और अन्त में "मुनि सुदर्शन" हो जाते हैं। काल-चक्र का वर्णन कवि ने किया है—

"काल-चक्र तेरी भी जग में, क्या ही अद्भुत महिमा है।
पार न पा सकता है कोई, कैसी गहन प्रक्रिया है॥"

संक्षेप में 'धर्मवीर सुदर्शन' कवि श्री जी के काव्य की एक 'अमर कृति' है।

कुछ अपनी ओर से :

इस प्रकार हम देखते हैं कि अमर मुनि एक सफल कवि हैं, किन्तु यदि उनके साहित्य की समस्त सामग्री का अध्ययन किया जाए, तो कहना पड़ेगा कि वे एक सफल महासाहित्यकार हैं। उनके साहित्य में गीत, गद्य, कहानी, निवन्ध आदि सव कुछ हैं, किन्तु इसके साथ-साथ कवि श्री जी की प्रवचन-कला की जितनी सराहना की जाए—थोड़ी है। उनके प्रवचनों से जिस शान्ति का आभास होता है—वह अद्वितीय है। एक सफल साहित्यकार म प्रायः यह प्रतिभा कम ही मिलती है। प्रवचन-कला के क्षेत्र में वे एक विद्वान होने के नाते श्रोताओं के हृदय पर एक अमिट छाप लगाते हैं।

कवि श्री अमरचन्द्र जी महाराज एक जैन मुनि हैं, समाज तथा जन-जीवन के प्रपंचों से दूर धर्म साधना में लीन रहते हैं। उन्होंने अकेले काव्य-क्षेत्र में ही कितने ही ग्रन्थों की रचना की है, जो भापा, अलंकार, कला आदि सभी दृष्टियों से अति सुन्दर वन पड़े हैं। इनमें भी 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'धर्मवीर सुदर्शन' नामक ग्रन्थ तो अतुलनीय हैं। यदि प्रयास किया जाए तो आधुनिक युग के तीन महाकाव्यों – 'साकेत', 'कामायनी' तथा 'प्रियप्रवास' के साथ इन दोनों ग्रन्थों को भी महाकाव्य का रूप प्रदान किया जा सकता है। इनमें महाकाव्य के सभी गुण विद्यमान हैं। सर्ग-वद्धता भी है। साहित्यिकता तो पग-पग पर टपकती है। किन्तु एक जैन मुनि इन पचड़ों में नहीं पड़ता है। अतः कवि श्री जी भी इतने उत्तम काव्य-ग्रन्थों की रचना करके चुप ही रहे हैं। किन्तु फिर भी मैं कहूँगा कि कोई भी साहित्य-प्रिय व्यक्ति यदि इन महाग्रन्थों का आलोचक की दृष्टि से अध्ययन करे, तो इन दोनों ग्रन्थों को महाकाव्य की श्रेणी में ही स्थान देगा। और साथ ही कवि जी के अन्य ग्रन्थ भी अध्ययन-मनन योग्य हैं। इनके अध्ययन से आत्मा को आनन्द की अनुभूति होती है। उस परमानन्द की, जो अन्यत्र किसी काव्य में दुर्लभ है। ये काव्य-ग्रन्थ वड़ी ही सुन्दर भापा तथा शैली में लिखे हुए हैं।

मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज साहित्य-क्षेत्र की उस चौमुखी प्रतिभा से विभूपित हैं, जिसमें एक ओर से उनकी काव्य-साधना, दूसरी ओर से उनके निवन्ध-संग्रह, तीसरी ओर से उनकी कहानी-कला तथा चौथी ओर से उनकी प्रवचन-कला आ-आकर अपने आपको कविवर के

ऊपर न्यौछावर करती हैं। कविवर के साहित्य में एक अभूत-पूर्व प्रतिभा है—मानव के लिए महान् संदेश है—प्रेरणा है, साधना है, आराधना है और सभी कुछ है, जो एक उच्च कोटि के साहित्यकार में होना चाहिए। मानव-मन को समझाने, बुझाने के लिए बहुत कुछ सामग्री है। इसमें भी मुनि श्री जी की प्रतिभा तो काव्य-पक्ष में अद्वितीय है। काव्य-पक्ष में कवि श्री जी ने प्रत्येक आवश्यकता का स्मरण रखा है। और इसी महानता के कारण 'मुनि अमर' को 'कवि अमर' का सम्बोधन मिला है।

काव्य-क्षेत्र में कवि श्री अमरचन्द्र जी महाराज उस मिलन-बिन्दु पर स्थित हैं, जहाँ से एक ओर कवि जी की राष्ट्रीय भावना निकलती है, तो दूसरी ओर 'भारत है सरदार अहा, सब देशों का' की भावना। जहाँ एक ओर नशीली वस्तुओं के त्याग की बात है, तो दूसरी ओर भगवान् के भजन में मन लगाने की बात। वे एक ऐसे महासंगम पर हैं, जहाँ से एक ओर उनका मुनि स्वरूप निकल आता है, तो दूसरी ओर उनका कवि स्वरूप। कितनी भिन्नता है दोनों स्वरूपों में, किन्तु फिर भी अमर कवि के हृदय में दोनों धाराएँ बहती हैं। एक ओर कंटकमय पथ पर चलने वाले जैन साधु अमर मुनि, दूसरी ओर कोमल भावनाओं में रची गई उनकी कविताएँ। दोनों पथ साधना के हैं, विपरीत साधना के। और इन दोनों साधनाओं के साधक हैं—'अमर मुनि'।

अमर-काव्य के ऊपर जब कुछ लिखने की प्रेरणा मिली तो मैंने उनके समस्त काव्य-ग्रन्थों को इकट्ठा किया। सब मेरे पढ़े हुए नहीं थे। अतः लिखने से पहले उन्हें पढ़ना आवश्यक समझकर पढ़ता गया। उस समय मुझे जिस असीम आनन्द की अनुभूति हुई, उसका वर्णन असम्भव है। कवि श्री अमरचन्द्र जी महाराज की काव्य रूपी ज्ञान-गंगा में डुबकी लगाते हुए मैंने अपने आपको उसमें डूबा हुआ पाया और जितना आनन्द उसके अध्ययन में मिला, उतना आज उसके ऊपर कुछ लिखने में नहीं मिल पा रहा। कवि श्री जी के काव्य के नायकों में यह सुन्दरता रही कि उन्होंने मुझे भी अपनी अनुभूतियों में घेर लिया। और वास्तव में यही एक सफल साहित्यकार की लेखनी का कमाल है, जो कवि श्री जी में सम्भव हो सका है।

—महावीर प्रसाद जैन, एम० ए०

कवि जी की काव्य-कला

पद्य-काव्य की शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'कविता' मानव-जीवन की कलापूर्ण विवेचना है—जो स्वरूप को कुरूप से पृथक् करती है, सौन्दर्य की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करती है, और जीवन के नव-जागरण के लिए नयी चेतना, नयी स्फूर्ति का नूतन संजीवन रस का संचार करती है। इस परिभाषा की पुष्टि प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक 'वाल्टर पेटर' की कविता-सम्बन्धी समीक्षा से भी हो जाती है।

कविता में 'सत्' कितने अंशों में विद्यमान है, इसका अनुसंधान करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सत्' की प्रेरणा मानव हृदय की स्वाभाविक वृत्ति है। मानव की अन्तर्वृत्ति सदाचारण, सद्धर्म तथा सत्प्रवृत्ति आदि सद्गुणों से तृप्त होती है और विपरीत अवगुणों से घृणा होती है। इस दृष्टि से हम कविता को मानव के अन्तःकरण का प्रति-विम्ब मानकर, उसे 'सत्' से पृथक् नहीं मान सकते।

कवि श्री जी की काव्य कला की दिव्य किरण, जो उनकी 'सत्य हरिश्चन्द्र' नामक रचना में प्रस्फुटित हुई है, वह उपरिकथित परिभाषा की दृष्टि से एक पूर्ण रचना है। और वह मानव को जीवन-संग्राम की ओर अग्रसर होने के लिए अपेक्षित पृष्ठ-भूमि तैयार करने में भी विशेष महत्व रखती है। हरिश्चन्द्र का जीवन मानव-जीवन में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कवि श्री जी की वहु-मुखी प्रतिभा ने उसे अपनी सहज अनुभूति, करुणा, सेवा और चारित्र-वल के द्वारा अत्यधिक सुन्दर वना दिया है। 'स्वान्तःसुखाय' की सीमा में हम इसे 'वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय' रचना मानेंगे।

कवि श्री जी का कवि-हृदय सत्य के महत्व को मानव-जीवन में एक पल के लिए भी भूल नहीं पाता है। मिट्टी का पुतला—मानव

किन उपकरणों को लेकर अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता है, उसके साथ उसे श्रेष्ठ बना देने का कौन-सा साधन है ?—सभी ओर से उनका हृदय जागरूक है, सचेत है। वह अतीत के उत्कर्ष पर मुग्ध हैं, और वर्तमान की हीनता पर क्षुब्ध। वह जानते हैं कि सत्य से दूर मानव-श्रेष्ठता का दावा व्यर्थ है, तभी तो कहने को बाध्य होते है कि—

"अखिल विश्व में एक सत्य ही जीवन श्रेष्ठ बनाता है,
विना सत्य के जप-तप-योगाचार भ्रष्ट हो जाता है।
यह पृथ्वी, आकाश और यह रवि-शशि, तारा-मण्डल भी,
एक सत्य पर आधारित हैं, क्षुब्ध महोदधि चंचल भी।
जो नर अपने मुख से वाणी वोल पुनः हट जाते हैं,
नर-तन पाकर पशु से भी, वे जीवन नीच विताते हैं।
मर्द कहाँ वे जो निज मुख कहते थे सो करते थे,
अपने प्रण की पूर्ति हेतु जो हँसते-हँसते मरते थे।
गाड़ी के पहिए की मानिंद पुरुष-वचन चल आज हुए,
सुवह कहा कुछ, शाम कहा कुछ, टोके तो नाराज हुए।"

मानव हृदय की सात्विक प्रवृत्तियाँ विभव-विलास के वातावरण में उन्नति नहीं अपनातीं, त्यागी-से-त्यागी हृदय भी कुछ देर के लिए ही सही, विभव-विलास की छाया में आत्म-विस्मृत-सा हो जाता है। हरिश्चन्द्र की कमजोरी भी ऐसे अवसर पर स्वाभाविक रूप में सामने आती है। रानी शैव्या का सौन्दर्य, प्राप्त विभव-विलासों का आकर्षण, उसे कर्त्तव्य-क्षेत्र से दूर खींच कर राज-प्रासाद का वन्दी बना देता है। प्रजा-पालक नरेश अपने को प्रजा के दुःख और कष्टों से अलग कर लेता है—'मोह-निद्रा' की सृष्टि होती है—विभव-विलास, प्रिया पुत्र……… कर्त्तव्य की बाराखड़ी यहीं समाप्त। मगर रानी का हृदय इस ओर अचेत नहीं है, वह स्नेह-प्रेम को समझती है और अपने को भी समझती है। प्रजा के दुःख-कष्ट उसकी आत्मा को कम्पित कर देते हैं—वह सोचने को वाध्य होती है—

"रूप-लुब्ध नर मोह-पाश में बँधा प्रेम क्या कर सकता,
श्वेत मृत्तिका-मोहित कैसे जीवन-तत्त्व परख सकता।
मैं कौशल की रानी हूँ, वस नहीं भोग में भूलूँगी,
कर्म-योग की कण्टक-दोला पर ही सन्तत झूलूँगी।"

भारतीय नारी का यह सुष्ठु हृदय किसको मुग्ध नहीं बना देगा ? शैव्या अपने वियोग का दुःख भुलाकर हरिश्चन्द्र को स्वर्ण-पुच्छ मृग-शावक की खोज में राज-प्रासाद से बाहर भेज देती है—प्रजा-जनों के बीच, नग्न सत्य का रूप देखने, और यह देखने कि नैसर्गिक सुन्दरता राज-प्रासाद की सुन्दरता से घट कर नहीं है। राज-प्रासाद की सीमित सुन्दरता किसी एक के लिए है, तो प्रकृति की असीम सौन्दर्य-राशि सर्वजन-सुलभ। प्रकृति की गोद में बैठकर मानव अपने जीवन का सामंजस्य, कर्म की प्रेरणा, सहज भाव से प्राप्त कर सकता है। कविश्री जी की भावना यहाँ सुप्त हृदय को उत्तेजना देती है—

"प्राप्त कर सद्गुण न बन पागल प्रतिष्ठा के लिए,
जब खिलेगा फूल, खुद अलि-वृन्द आ मंडराएगा।
फूल-फल से युक्त होकर वृक्ष झुक जाते स्वयं,
पाके गौरव-मान कब तू नम्रता दिखलाएगा!
रात-दिन अविराम गति से देख झरना वह रहा,
क्या तू अपने लक्ष्य के प्रति यों उछलता जाएगा?
दूसरों के हित 'अमर' जल-संग्रही सरवर बना,
दीन के हित धन लुटाना क्या कभी मन भाएगा!"

हम यहाँ भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि-कवि के रूप में कवि श्री जी को देखने को बाध्य होते हैं—'Domestic Sentiment' (गार्हस्थ्य-भाव) में ही वह त्याग की अर्चना हमें सिखाते हैं—यह उनकी विशेषता है। यह बात नहीं कि अपने त्याग-पूर्ण जीवन में उन्होंने सांसारिक व्यथा-वेदनाओं पर से अपनी आँखें फिराली हैं, करुणा और दया के अटूट सम्बन्ध ने आपके काव्य और व्यक्तित्व—दोनों को भाव-विकल बनाया है। भाग्य-चक्र में अपनी सारी राज्य-सम्पत्ति विश्वामित्र को दान में देकर हरिश्चन्द्र जब शरद्-जलद के समान हल्का और निर्धन हो जाता है—दुनियाँ की दृष्टि में बहुत ऊपर उठ जाता है। अतीत का विभव-विलास उसके लिए स्वप्न बनकर रह जाता है। वर्तमान में नंगे पैरों उसका अभियान, प्रिया-पुत्र के साथ आत्म-विक्रय के लिए काशी की ओर होता है। भूख की ज्वाला मानव-हृदय को नीच-से-नीच प्रवृत्तियों पर उतार लाती है, मगर ऐसा वहीं होता है, जहाँ भूख-क्षुधा का महत्व मानव-मर्यादा से अधिक आँका जाता है। ऐसी

घड़ियों में हरिश्चन्द्र की कर्त्तव्य-निष्ठा और आत्म-गौरव, मानव-श्रद्धा की वस्तु बनकर सामने आती है। वह जीवन धारण के लिए—परिश्रम का भोजन प्राप्त करेगा, क्षत्रिय-धर्म में किसी की दी हुई वस्तु का ग्रहण उसके लिए अनुचित है।

"भिक्षा या अनुचित पद्धति से ग्रहण न करते भोजन भी,
सत्य-धर्म से तन क्या डिगना, डिगता है न कभी मन भी।
सत्य कहा है सत्पुरुषों का असि-धारा सा जीवन है,
न्याय-वृत्ति से पतित न होते, संकट में न प्रकम्पन है॥"

कवि श्री जी का हृदय हरिश्चन्द्र की कर्त्तव्य-निष्ठा पर मात्र गर्वित होकर ही नहीं रह जाता, वह दुनियाँ के धनी-निर्धन का संघर्ष और उपेक्षा-पीड़ा का जन्म भी अनुभव करता है। इस प्रकार उनकी कल्पना अपनी परिधि बढ़ाकर उन्हें वर्तमान-काल की त्रस्त मानवता का चित्र देखने को बाध्य करती है—वह सर्वहारा दल की ओर से नहीं—मानवता की ओर से पुकार उठते हैं—

"बड़ा दुःख है, बड़ा कष्ट है, धनवालो क्या करते हो?
दीन-दुखी का हृदय कुचलते, नहीं जरा भी डरते हो?
लक्ष्मी का क्या पता, आज है कल दरिद्रता छा जाए,
दो दिन की यह चमक-चाँदनी, किस पर हो तुम गरवाए?"

× + ×

"धन-दौलत पाकर भी सेवा अगर किसी की कर न सका,
दया-भावना दुःखित दिल के जख्मों को यदि भर न सका।
वह नर अपने जीवन में सुख-शान्ति कहाँ से पाएगा?
ठुकराता है जो औरों को, स्वयं ठोकरें खाएगा।"

'The Prison-yard' का असर चित्रकार अपने चित्रों के लिए—'I want to paint humanity, humanity and again humanity' का उत्साह पालता था। 'Humanity' ही अपने उत्कर्ष रूप को लेकर मनुष्य को देवता—नहीं, उससे भी ऊपर—का स्थान प्रदान कर सकती है। हम अपने सुख-दुःख को संसार के सुख-दुःख में मिलाकर ही उनका वास्तविक अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। करुणा-दया को समझ कर ही मानव अपने-आप को समझ सकता है—हम आत्म-चिन्तन की घड़ियों में इस पर सोचने का कष्ट क्यों नहीं उठाते? दूसरों

की कठिन विपत्ति हमारे लिए कुछ महत्व नहीं रखती—यह मनुष्यता का अपमान है। हरिश्चन्द्र का राज्य छूटा, प्रिया छूटी और पुत्र छूटा—कर्त्तव्य की वेदी पर उसने सर्वस्व का वलिदान किया, चाण्डाल की सेवा-वृति स्वीकार की—उसका यह आदर्श चित्र संसार की आँखों में विस्मय भरने में समर्थ हुआ।

अब कवि श्री जी के द्वारा इसी संसार में रहने वाले द्विज-पुत्र का चित्र देखिए—

रानी शैव्या पति-ऋण चुकाने में ब्राह्मण परिवार की दासी वनी—कठिन श्रम उठाना स्वीकार किया······उपेक्षा, घृणा, कष्ट—सब कुछ अपने आशा-धन रोहित पुत्र को सामने रख कर सहने का व्रत लिया। भविष्य की कल्पानाएँ उसके साथ हैं—कभी रोहित उसका उद्धार कर सकेगा ·· मगर भाग्य-चक्र में रोहित भी उसका साथ छोड़ देता है, काले सर्प का कठिन प्रहार सुकुमार वालक नहीं सह सका। माता का हृदय एक वार ही विदीर्ण हो गया—उसकी यह करुण चीत्कार—

"हा रोहित, हा पुत्र! अकेली छोड़ मुझे तू कहाँ गया?
मैं जी कर अव वता करूँ क्या, ले चल मुझको जहाँ गया।
पिछला दुख तो भूल न पायी, यह आ वज्र नया टूटा।
तारा तू निर्भागिन कैसी, भाग्य सर्वथा तव फूटा॥"

—की ध्वनि-प्रतिध्वनि किसी भी हृदय को कम्पित कर देने में समर्थ हैं। मगर द्विज-पुत्र को इससे क्या, तारा उसकी दासी है—उसे सुख पहुँचाने के लिए, अपने रुदन-स्वर से उसका हृदय दुखित करने के लिए नहीं। वह चिल्ला पड़ता है—

"रोती क्यों है? पगली हो क्या गया? कौन-सा नभ टूटा,
वालक ही तो था, दासी के जीवन का वन्धन छूटा।"

× × ×

"क्या उपचार? मर गया वह तो, मृत भी क्या जीवित होते?
हम स्वामी दासों के पीछे द्रव्य नहीं अपना खोते।"

यह स्वामित्व, मानवता के लिए कितना बड़ा अभिशाप है?······ओह!

हरिश्चन्द्र का चारित्रक 'क्लाइमेक्स' कफन-कर वसूल करने में हमारे सामने आता है—सेवक का कर्त्तव्य वह नहीं छोड़ सकता—उसे तो वह चरम सीमा तक पहुँचा कर ही रहेगा। हरिश्चद्र—हरिश्चन्द्र है, और संसार—संसार। एक क्षण के लिए भी संसार यदि हरिश्चन्द्र का आदर्श अपनाले, तो उसका नारकी रूप—स्वर्ग-छटा में बदल जाए।

कवि श्री जी का 'सत्य हरिश्चन्द्र' काव्य आदि से अन्त तक मानवता का आदर्श एवं करुणा-उद्भावना उपस्थित करने वाला काव्य है। इसमें ओज है—प्रवाह है, और है—सुष्ठु कल्पना। हम इसे अपनी विचारधारा में महाकाव्य ही कहेंगे—नियम-निषेध से दूर। हरिश्चन्द्र अपने में पूर्ण है, उसका चरित्र भी अपने में पूर्ण है—ऐसी अवस्था में यह हरिश्चन्द्र-काव्य, खण्ड-काव्य की श्रेणी में किसी भी तरह नहीं आता।

जान-बूझकर भाषा-शैली को दुरूह और अस्पष्ट बनाने की परिपाटी से कविश्री जी ने अपनी कविता को पृथक् रखा है। उनका उद्देश्य—उनके सामने रहा है, और उनका उद्देश्य सर्व-साधारण में 'मानवीय व्यक्तित्व' (Human Personality) को प्रश्रय देना मुख्य है। हमें विश्वास है—'सत्य हरिश्चन्द्र' काव्य उनके उद्देश्य को आगे बढ़ाएगा।

—कुमुद विद्यालंकार

निवन्ध-कला

निबन्ध का विवेचन करते हुए एक विद्वान् ने कहा कि—"निबन्ध गद्य की कसौटी है।' भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्ध में ही सबसे अधिक संभव होता है।" इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि गद्य का पूर्ण विकसित और शक्तिशाली रूप निबन्ध में ही चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इसलिए भाषा की दृष्टि से निबन्ध गद्य-साहित्य का सबसे अधिक परिपक्व और विकसित रूप है। साधारण लेख तथा निबन्ध में पर्याप्त अन्तर होता है। साधारण लेख में लेखक का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रहता है और निबन्ध में वह व्यक्तित्व सबसे ऊपर उभर कर सामने आता है। यह वैयक्तिता ही निबन्ध का सबसे प्रधान और महत्त्वशाली गुण है। हमारे यहाँ प्राचीन काल से बौद्धिक तथा तार्किक विषयों की विवेचना के लिए निबन्ध का ही आश्रय ग्रहण किया जाता रहा है।

संस्कृत में 'निबन्ध' शब्द का अर्थ है—'बाँधना'। निबन्ध वह है, जिसमें विशेष रूप से बन्ध या संगठन हो, अथवा जिसमें अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या गुंफन हो। 'हिन्दी-शब्द-सागर' में इस शब्द का अर्थ है—"निबन्ध वह व्याख्या है, जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो।" परन्तु आज का 'निबन्ध' शब्द अपने पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'Essay' के अर्थ में ह ग्रहण किया जाता है, जिसका अर्थ होता है—प्रयत्न। वास्तव में निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं, जिसमें परिमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन अथवा प्रतिपादन अपने

विशेष निजीपन, स्वतन्त्रता, सौष्ठव, संजीवता, आवश्यक संगति और सभ्यता के साथ किया गया हो।" स्वाभाविकता के साथ अपने भावों को प्रकट कर देना, जिसमें दर्पण के प्रतिविम्ब की तरह लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे—निवन्ध की सच्ची कसौटी है। निवन्ध लिखने के लिए पाँच तत्त्वों को आवश्यकता है—

१. लेखक का व्यक्तित्व आकर्षक हो।
२. लेखक का हृदय संवेदन-शील हो।
३. लेखक में सूक्ष्म निरीक्षण की असाधारण शक्ति हो।
४. लेखक में जीवन की विशद एवं स्पष्ट अनुभूति हो।
५. लेखक को मनुष्य तथा समाज की रीति-नीति एवं परम्परा का सजीव परिचय हो।

निवन्ध को गद्य में अभिव्यक्त एक प्रकार का 'स्वगत-भाषण' भी कहा जा सकता है। उसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रधान होने के कारण लेखक के विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति का होना भी परम आवश्यक माना गया है। इस आधार पर निवन्ध की सबसे सुन्दर परिभाषा इस प्रकार है—"निवन्ध गद्य-काव्य की वह विधा है, जिसमें लेखक एक सीमित आकार में इस विविध-रूप जगत् के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है।"

मुख्य रूप में निवन्ध-कला के दो भेद हैं—१. भावात्मक, और २ विचारात्मक। भावात्मक निबन्धों में लेखक किसी वस्तु का विवेचन अपनी बुद्धि और तर्कशक्ति से नहीं करता, अपितु अपने हृदय की भावनाओं एवं सरस अनुभूतियों के रङ्ग में प्रस्तुत करके पाठक की हृदय-तन्त्री को छेड़ देता है। विचारात्मक निबन्धों में चिन्तन, विवेचन और तर्क की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से किसी एक वस्तु की तर्कपूर्ण और चिन्तन-शील अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रकट होती है।

भावात्मक निबन्ध :

शैली की दृष्टि से भावात्मक निवन्ध दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—१. धारा-शैली के निवन्ध, और २ विक्षेप-शैली के निबन्ध। प्रथम प्रकार के निवन्धों में भावों का क्रमशः विकास और भाषा की

अटूट धारा बहती है। दूसरे प्रकार के निबन्धों में भाषा की गति और भावों का प्रवाह एक-सा नहीं रहता। भावात्मक निबन्ध तीन प्रकार के होते हैं—

१. कल्पना-प्रधान
२. अनुभूति-प्रधान
३. हास्य और व्यंग्य-प्रधान

कल्पना-प्रधान—इन निबन्धों में विषय का यथार्थ रूप लेखक की मधुर कल्पनाओं में ढंक जाता है। कभी-कभी लेखक सर्वथा नवीन शब्द चित्रों की भी सृष्टि करता है। शब्द-माधुर्य, अलंकृत-शैली और मनोहर कल्पनाएं इनकी विशेषताएँ हैं।

अनुभूति-प्रधान—इन निबन्धों में लेखक अनुपम कल्पना नहीं करता, अपितु विषय को हृदयंगम करके उसे कोमल अनुभूतियों के रङ्ग में रङ्ग देता है। किसी समय देखी अथवा सुनी हुई वस्तु को दोवारा सम्पर्क में आने पर लेखक का भावपूर्ण हृदय उमड़ कर वाहर फूट पड़ता है।

हास्य और व्यंग्य-प्रधान—इन निबन्धों में हल्की-सी भावानुभूति और मधुर कल्पना भी रहती है, पर उसकी अभिव्यक्ति हास्य और व्यंग्य के मिश्रण से की जाती है। मनोरंजन के साथ-साथ इस प्रकार के निबन्ध सामाजिक कुरीतियों पर कभी-कभी कड़ी चोट भी कर जाते हैं।

विचारात्मक निबन्ध :

शैली की दृष्टि से विचारात्मक निबन्ध दो प्रकार के होते हैं—१. समास-शैली के निबन्ध, और २. व्यास-शैली के निबन्ध। पहली शैली में गम्भीर विचारों को प्रकट करने की चेष्टा की जाती है। अतः इनमें संस्कृत की कठिन और समास पदावली का प्रयोग किया जाता है। गवेषणात्मक और विवेचनात्मक निबन्धों में यही शैली लाभदायक होती है। दूसरे प्रकार की शैली में छोटे-छोटे वाक्य और सरल पदावली रहती है, तथा एक वात को विस्तार तथा व्याख्या से कहने का यत्न किया जाता है। विचारात्मक निबन्ध के तीन भेद और हैं—

१. आलोचनात्मक
२ विवेचनात्मक
३. गवेषणात्मक

आलोचनात्मक—गद्य के आलोचना और निबन्ध पृथक् रूप माने गए हैं, किन्तु विधान की दृष्टि से अधिकांश आलोचनात्मक लेख निबन्ध के अन्तर्गत आ जाते हैं। विचारात्मक निबन्धों से इनमें सरसता भी अधिक होती है, भले ही आलोचना का सिद्धान्त-पक्ष नीरस ही हो।

विवेचनात्मक—किसी एक विषय का वाहरी और भीतरी गंभीर विवेचन उनकी विशेषता होती है। इसमें लेखक के व्यक्तिगत विचार और मनन का पूर्ण प्रभाव पड़ता है।

गवेषणात्मक—यह निबन्ध विशेष रूप से विद्वानों की वस्तु होते हैं। इनमें गम्भीर अध्ययन और शोध-कार्य प्रधान होते हैं। धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास, समाज अथवा किसी प्राचीन ग्रन्थ पर तात्त्विक दृष्टि से और पारिभाषिक शब्दावली में युक्तिपूर्ण विवेचन किया जाता है।

कवि श्री जी की साहित्य-साधना का 'निबन्ध-कला' एक मुख्य अङ्ग है। उनके निबन्धों में निबन्ध-कला का पूर्ण विकास हुआ है। उनके निबन्ध भावात्मक और विचारात्मक—दोनों शैलियों में लिखे गए हैं। उनके निबन्धों मे कल्पना, अनुभूति, और तर्कपूर्ण व्यंग्य अपना प्रभाव पाठक के मन पर छोड़ते हैं। निबन्धों की शैली सरस, और भाषा सरल तथा हृदय की भावनाओं को अभिव्यक्त करने की कला अद्भुत है। इस दिशा में कवि श्री जी का शानी अभी तक कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। कवि श्री जी ने आलोचनात्मक, विवेचनात्मक और गवेषणात्मक निबन्ध भी काफी वड़ी संख्या में लिखे हैं। उनके निबन्धों का विषय है—धर्म, दर्शन, संस्कृति, समाज, साहित्य, इतिहास और जीवन। उसके निबन्धों की शैली कहीं पर व्यासात्मक है और कहीं पर समासात्मक। इस प्रकार विविध शैलियों में और विविध विषयों पर कवि श्री जी का निबन्ध-साहित्य आज भी उपलब्ध है। निबन्धों के विषय में उनकी कई पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है और कितनी ही पुस्तकें अभी तक अप्रकाशित रूप में हैं।

'जैनत्व की झाँकी', 'आदर्श-कन्या', 'आवश्यक-दिग्दर्शन' आदि उनके निबन्धों की पुस्तकें हैं। उक्त पुस्तकों का समाज में काफी प्रचार और प्रसार है। 'जैनत्व की झाँकी' में धर्म और दर्शन तथा इतिहास-विषयक निबन्ध हैं। 'आवश्यक-दिग्दर्शन' में आलोचनात्मक और गवेषणात्मक निबन्ध हैं। 'आदर्श-कन्या' में जीवन और समाज-विषयक निबन्ध है। इस प्रकार कवि श्री जी की साहित्य-साधना का यह एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उनके निबन्धों के कुछ उद्धरण मैं यहाँ दे रहा हूँ—

"भगवान् महावीर के नौनिहालो, तुम्हारा क्या हाल-चाल है? जरा सोचो-समझो और चालू जमाने की हलचल पर नजर फेंको। आज का प्रगतिशील संसार हमें किस प्रकार हिकारत की निगाह से देख रहा है और जैसे-तैसे हमारे सर्वनाश के लिए तुला खड़ा है। समय रहते संभल जाओ, अन्यथा हजारों वर्षों का चला आने वाला अधिकार छिन जाने में कुछ भी देर नहीं है—'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत'।"

"यह भी क्या बीमारी, कि इधर साधु का बाना लेते देर न हुई और चेले मूँड़ने की फिक्र पड़ गई। कौन योग्य है, कौन नहीं? इसका तनिक भी विचार नहीं, भेड़-बकरियों की तरह बाड़ा भरते जा रहे हो। कभी हृदय पर हाथ रख कर विचारा है कि चेले के नाम से इन कीड़ों-मकोड़ों की झोली भरने में क्या-क्या दम्भ चलाने पड़ते हैं, संयम के कोयले करने पड़ते हैं। याद रखो, इन भरती के रंगरूटों से न तो जैन-धर्म का मुख उज्ज्वल होगा और न तुम्हारा ही। पहले अपने-आप को तो सुधार लो, चेलों का सुधार तो फिर होता रहेगा। धाड़ इकट्ठी करके क्या करोगे? जैसा बने, वैसा कुछ समाज-हित का नया काम करके दिखा जाओ, ताकि संसार तुम्हें हजारों शताब्दियों तक अपने हृदय-मन्दिर में देव बनाकर पधराए रखे। 'कार्य की पूजा है, यहाँ रेवड़ की कुल-पूजा नहीं।"

× × ×

"मध्यस्थ दृष्टि हमें यह सिखाती है कि सत्य एक विशाल समुद्र है और जितनी भी विभिन्न साम्प्रदायिक विचार-धाराएँ हैं, वे सब छोटी सरिताएँ हैं। सरिताएँ कितनी ही टेढ़ी-मेढ़ी क्यों न हों और इधर-उधर चक्कर काटती क्यों न घूमें, परन्तु अन्त में मिलना तो है—उसी महा

सिन्धु में। अतएव हमारा लक्ष्य इस प्रारम्भिक पार्श्व पर न होकर उस अन्तिम पार्श्व पर होना चाहिए। और जब यह लक्ष्य स्थिर हो जाएगा तब—'मेरा सो सच्चा' - का मिथ्याभिमान नष्ट हो जाएगा। उस समय हमारा महान् आदर्श सिद्धान्त होगा 'सच्चा सो मेरा।' हजारों वर्षों से मानव-जाति में द्वन्द्व और कलह मचाने वाली धार्मिक असहिष्णुता, अनुदारता और संकीर्णता को जड़ से उखाड़ फेंकने वाला यही आदर्श सिद्धान्त है।"

"आज का युग मानव-जाति के लिए सर्वनाश का युग हो रहा है। मिथ्या आहार-विहार और मिथ्या आचरण ने मानवता को चकनाचूर कर दिया है। क्या राष्ट्र, क्या धर्म, क्या जाति और क्या परिवार—सब-के-सब पारस्परिक अविश्वास के शिकार हो रहे हैं। और तो क्या, एक रक्त की सर्वथा निकटस्थ सन्तान—भाई-भाई भी एक-दूसरे के पिपासु बन गए हैं। इन भयंकर धधकती ज्वालाओं का शमन सत्य की सच्ची उपासना के बिना नहीं हो सकता। उपनिषद् काल के एक महर्षि का अमर स्वर आज भी हमारे कानों में गूँज रहा है—

"असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योर्तिगमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय।"

× × ×

"भगवान् महावीर ने उक्त एकान्तवादों के संघर्ष की समस्या को बड़ी अच्छी तरह सुलझाया है। संसार के सामने भगवान् ने समन्वय की वह बात रखी है, जो पूर्णतया सत्य पर आधारित है। महावीर का कहना है कि पाँचों ही वाद अपने स्थान पर ठीक हैं। संसार में जो भी कार्य होता है, वह इन पाँचों के समवाय से, अर्थात् मेल से ही होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक ही वाद अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। बुद्धिमान मनुष्य को आग्रह छोड़कर सबका समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किए कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशा मात्र है। यह हो सकता है कि कार्य में कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब कुछ गौण हों। परन्तु यह नहीं हो सकता कि कोई स्वतंत्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।"

"महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोने वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग में आम की गुठली बोता है, यहाँ पाँचों कारणों के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली में आम पैदा करने का स्वभाव है, परन्तु बोने का और बोकर रक्षा करने का पुरुषार्थ यदि नहीं हो, तो क्या होगा? बोने का पुरुषार्थ भी कर लिया, परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुए आम यों ही जल्दी थोड़े ही तैयार हो जाएगा। काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकूल नहीं है, तो फिर भी आम नहीं लगा सकता। कभी-कभी किनारे आया जहाज भी डूब जाता है। अब रही नियति, सो वह तो सब कुछ है ही। आम से आम पैदा होना—प्रकृति का नियम है, इससे कौन इन्कार कर सकता है।"

× × ×

"जैन-धर्म की साधना—इच्छा-योग की साधना है, सहज-योग की साधना है। जिस साधना में बल का प्रयोग हो, वह साधना निर्जीव बन जाती है। साधना के महापथ पर अग्रसर होने वाला साधक अपनी शक्ति के अनुरूप ही प्रगति कर सकता है। साधना तो की जाती है, लादी नहीं जा सकती।"

संसार में जैन-धर्म—अहिंसा का, शान्ति का, प्रेम का और मैत्री का अमर सन्देश लेकर आया है। उसका विश्वास प्रेम में है, तलवार में नहीं। उसका धर्म आध्यात्मिकता में है, भौतिकता में नहीं। साधना का मौलिक आधार यहाँ भावना है, श्रद्धा है। आग्रह और बलात्कार को यहाँ प्रवेश नहीं है। जब साधक जाग उठे, तभी से उसका सवेरा समझा जाता है। सूर्य-रश्मियों के संस्पर्श से कमल खिल उठते हैं। शिष्य के प्रसुप्त मानस को गुरु जागृत करता है, चलना तो उसका अपना काम है।

आगम वाङ्मय का गम्भीरता से परिशीलन करने वाले मनीषी इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि परम प्रभु महावीर प्रत्येक साधक को एक ही मूल मन्त्र देते हैं कि—'जहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबन्धं करेह।' अर्थात्—'देव वल्लभ मनुष्य! जिसमें तुझे सुख हो, जिसमें तुझे शान्ति हो, उसी साधना में तू रम जा।' परन्तु एक शर्त जरूरी है—जिस कल्याण-पथ पर चलने का तू निश्चय कर चुका है, उस पर चलने में विलम्ब मत कर, प्रमाद न कर।'

"जैन-धर्म एक विशाल और विराट धर्म है। यह मनुष्य की आत्मा को साथ लेकर चलता है। यह किसी पर बलात्कार नहीं करता। साधना में मुख्य तत्त्व सहज-भाव और अन्तःकरण की स्फूर्ति है। अपनी इच्छा से और स्वतः स्फूर्ति से जो धर्म किया जाता है, वस्तुतः वही सच्चा धर्म है, शेष धर्माभास मात्र होता है। जैन-धर्म में किसी भी साधक से यह नहीं पूछा जाता कि—'तू ने कितना किया है?' वहाँ तो यही पूछा जाता है कि—तू ने कैसे किया है?' सामायिक, पौषध या नव-कारसी करते समय तू शुभ संकल्पों में, शुद्ध भावों के प्रवाह में बहता रहा है या नहीं? यदि तेरे अन्तर में शान्ति नहीं रही, तो वह क्रिया केवल क्लेश उत्पन्न करेगी—उससे धर्म नहीं होगा, क्योंकि—

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव-शून्याः।"

× × ×

"वर्तमान युग में दो प्रयोग चल रहे हैं—एक अणु का, दूसरा सहअस्तित्व का। एक भौतिक है, और दूसरा आध्यात्मिक। एक मारक है, दूसरा तारक। एक मृत्यु है, दूसरा जीवन। एक विष है, दूसरा अमृत।

अणु प्रयोग का नारा है—'मैं विश्व की महान् शक्ति हूँ, संसार का अमित बल हूँ, मेरे सामने झुको या मरो। जिसके पास मैं नहीं हूँ, उसे विश्व में जीवित रहने का अधिकार नहीं है—क्योंकि मेरे अभाव में उसका सम्मान सुरक्षित नहीं रह सकता।'

"सहअस्तित्व का नारा है—'आओ, हम सब मिलकर चलें, मिलकर बैठें, और मिलकर जीवित रहें, मिलकर मरें भी। परस्पर विचारों में भेद है, कोई भय नहीं। कार्य करने की पद्धति विभिन्न है, कोई खतरा नहीं—क्योंकि तन भले ही भिन्न हों, पर मन हमारा एक है। जीना साथ है, मरना साथ है, क्योंकि हम सब मानव हैं और मानव एक साथ ही रह सकते हैं—बिखर कर नहीं, बिगड़ कर नहीं।"

"आज की राजनीति में विरोध है, विग्रह है, कलह है, असन्तोष है और अशान्ति है। नीति, भले ही राजा की हो या प्रजा की—अपने-आप में पवित्र है, शुद्ध और निर्मल है। क्योंकि उसका कार्य जग-कल्याण है, जग-विनाश नहीं। नीति का अर्थ है—जीवन की कसौटी, जीवन की प्रामाणिकता, जीवन की सत्यता। विग्रह और कलह को

हाँ अवकाश नहीं, क्योंकि वहाँ स्वार्थ और वासना का दमन होता है। और धर्म क्या है? सब के प्रति मङ्गल-भावना। सब के सुख में सुख-बुद्धि और सब के दुःख में दुःख-बुद्धि। समत्व-योग की इस पवित्र भावना को 'धर्म' नाम से कहा गया है। यों मेरे विचार में 'धर्म' और नीति' सिक्के के दो बाजू हैं। दोनों की जीवन-विकास में आवश्यकता भी है। यह प्रश्न अलग है कि राजनीति में धर्म और नीति का गठ-बन्धन कहाँ तक संगत रह सकता है? विशेषतः आज की राजनीति में जहाँ स्वार्थ और वासना का नग्न ताण्डव नृत्य हो रहा हो, मानवता मर रही हो।"

× × ×

"धर्म, दर्शन और विज्ञान—परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं अथवा एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं? मानव-जीवन के लिए तीनों कहाँ तक उपयोगी हैं? मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न आज नहीं तो कल अवश्य अपना समाधान माँगेंगे—माँग चुके हैं। धर्म और दर्शन में तो आज ही नहीं, युग-युग से साहचर्य रहा है, आज भी है। धर्म का अर्थ है—आचार। दर्शन का अर्थ है—विचार। भारतीय धर्मों की प्रत्येक शाखा ने आचार और विचार में, धर्म एवं दर्शन में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। गीता में सांख्य-बुद्धि और योग-कला का सुन्दर समन्वय किया गया है। बौद्धों में 'हीनयान' और 'महायान'—आचार तथा विचार के क्रमिक विकास के बीजभूत हैं। हीनयान धर्म (आचार) प्रधान रहा, तो महायान—दर्शन (विचार) प्रधान बन गया। जैनों में धर्म और दर्शन के नाम पर आचार तथा विचार को लेकर सांख्य-योग एवं हीनयान-महायान जैसे स्वतन्त्र विभेद तो नहीं पड़ सके। क्योंकि एकान्त आचार तथा एकान्त विचार जैसी वस्तु अनेकान्त में कथमपि सम्भवित ही न थी। जैन आचार्यों ने आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त पर विशेष बल दिया अवश्य, फिर भी यहाँ धर्म और दर्शन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित नहीं कर सके। दोनों का गङ्गा-यमुना रूप ही अनेकान्त में फिट बैठ सकता था। अब रही विज्ञान की बात। विज्ञान है क्या? यदि सत्य का अनुसन्धान ही वास्तव में विज्ञान है, तो वह भी दर्शन की एक विशेष पद्धति होने का नामान्तर होगा। यदि वहाँ भेद जैसी कोई चीज आवश्यक ही है, तो केवल इतना भेद किया जा सकता है, कि विचार के दो पक्ष होंगे—

एक अध्यात्म-अनुसन्धान, दूसरा भौतिक अनुसन्धान। अन्दर की खोज, और बाहर की खोज। पहला दर्शन कहा जाएगा, और दूसरा विज्ञान। परन्तु आखिर धर्म, दर्शन और विज्ञान—तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विघटक नहीं। इस अर्थ में वे तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विघटक नहीं। इस अर्थ में वे तीनों एक-दूसरे से सम्बद्ध ही कहे जा सकते हैं।"

"सब के उदय का, सब के उत्कर्ष का अर्थ यही है कि कोई भी सुख किसी एक व्यक्ति या वर्ग के लिए न होकर, सब के लिए हो। सुख ही नहीं, मानव को दुःख भी बाँटना होगा। तभी समाज में समत्व योग का प्रसार सम्भवित है। जब तक एक वर्ग दूसरे वर्ग का अथवा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है, तब तक सच्चे अर्थ में सर्वोदय का समवतार नहीं माना जा सकता, और न तब तक सामाजिक न्याय ही सम्भव है। एक की समृद्धि दूसरे के शोषण पर खड़ी नहीं होनी चाहिए। प्रकाश को अपने साम्राज्य का भव्य प्रसार अन्धकार की नींव पर खड़ा करते किसने देखा है? क्या प्रकाश अन्धकार को अपना आधार बना सकता है? यदि नहीं, तो शोषण के आधार पर सुख कैसे खड़ा रहेगा? जब तक समाज में, राष्ट्र में और व्यक्ति में भी शोषण-वृत्ति का अस्तित्व किसी भी अंश में है, तब तक वहाँ सर्वोदय टिक न सकेगा। सर्वोदय की व्यवस्था में शोषक—शोषक न रहेगा और शोषित—शोषित न रहेगा। सर्व प्रकार के शोषण के विरुद्ध सर्वोदय का एक ही नारा है—"हम शोषक का अन्त नहीं, शोषण-वृत्ति का ही अन्त करना चाहते हैं। जब समाज में, राष्ट्र में, व्यक्ति में शोषण-वृत्ति ही न रहेगी, तब शोषण का अस्तित्व ही न रहेगा।" सुख—दुःख में, और दुःख—सुख में पच जाएगा। तभी व्यक्ति का, समाज का और राष्ट्र का—सभी का उदय होगा।"

"विचार और विकार—दोनों की उत्पत्ति का केन्द्र-स्थल मानव-मन है। विकार से 'पतन' और विचार से 'उत्थान' होता है। दूसरों के प्रति विद्वेष की भावना रखना, मानव-मन का विकार है। सर्वोदय, विकार को विचार में बदलने की एक कला है। जन-जीवन में दिव्य विचारों का प्रसार करना भी सर्वोदय का एक अपना उदात्त विचार ही है। समाज के उत्थान के लिए और व्यक्ति के उत्कर्ष के लिए केवल दिव्य विचारों का प्रसार करके ही सर्वोदय विरत नहीं हो

जाता, वल्कि वह आगे वढ़कर कहता है कि विचार भी जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन न ला सकेंगे। भारतीय संस्कृति की एकमात्र यही विशेषता है कि आदर्श को केवल आदर्श मानकर ही बैठ नहीं जाती, वल्कि उसे जीवन में उतारने की पद्धति भी वतलाती है।"

"पहाड़ की गहरी कन्दरा में गुलाव का एक फूल खिला हुआ था। मैंने पूछा—'तू यहाँ किस लिए खिला हुआ है, जब कि न कोई देखता है, न सुगन्ध लेता है। आखिर, यहाँ पर तुम्हारा क्या उपयोग है?' उसने उत्तर दिया—'मैं इसलिए नहीं खिलता कि कोई मुझे देखे या सुगन्ध ले! यह तो मेरा स्वभाव है। कोई देखे या न देखे, मैं तो खिलूँगा ही।"

मैंने मन में सोचा—"क्या मानव भी निष्काम कर्म-योग का यह पाठ सीख सकेगा?"

"लोग कहते हैं कि राम ने रावण को मारा। परन्तु क्या यह सच है? रावण को मारने वाला स्वयं रावण ही था, दूसरा कोई नहीं। मनुष्य का उद्धार एवं संहार, उसका अपना भला-बुरा आचरण ही करता है—यह एक अमर सत्य है। इसे हमें समझना चाहिए। अरे मनुष्य! तू अपने शत्रु को अपने अन्दर ही क्यों नहीं देखता?"

"वीरता और कायरता में क्या भेद है? जहाँ वीर का कदम आगे की ओर वढ़ता है, वहाँ कायर का कदम पीछे की ओर पड़ता है। वीर रण-क्षेत्र में अपने पीछे आदर्श छोड़ जाता है और मर कर भी अमर हो जाता है। लेकिन कायर मैदान से मुँह मोड़ कर भाग खड़ा होता है और कुत्ते की मौत मरता ।"

संस्मरण

जीवनी में व्यक्ति का समग्र जीवन शृङ्खलाबद्ध रूप से उपस्थित किया जाता है। किन्तु संस्मरण में उस जीवन के कुछ मधुर क्षणों का सजीव चित्र दिखाया जाता है। उपन्यास और कहानी का जो अन्तर है, कुछ वैसा ही 'जीवनी' और 'संस्मरण' में समझना चाहिए। संस्मरण-लेखक जीवन की एक सुन्दर झाँकी को रोचक और संवेदनात्मक ढंग से लिखता है। वह संस्मरण सदैव व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रतिविम्ब ग्रहण किए हुए रहता है।

जीवन-संस्मरण और यात्रा-संस्मरण भी गद्य के ही भाग हैं। संस्मरण में किसी व्यक्ति के जीवन की सुन्दर घटनाओं का, उसके स्वभाव का और उसके व्यक्तित्व का सुन्दर और प्रवाह-युक्त भाषा में अंकन किया जाता है। यात्रा-संस्मरण में लेखक जो कुछ देखता है और जो कुछ सुनता है, उसे ललित भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है। कवि श्री जी ने समय-समय पर दोनों ही प्रकार के संस्मरण लिखे हैं— जीवन-संस्मरण भी और यात्रा-संस्मरण भी। संस्मरण लिखने की उनकी शैली बड़ी अद्भुत और प्रभावक होती है। वर्णन के अनुसार उनके संस्मरण की भाषा कहीं पर गंभीर और कहीं पर सरल और सीधी-सादी होती है। भावों का अंकन उनके संस्मरणों में गजब का होता है। छोटी-से-छोटी घटना को भी वे पाठकों के सम्मुख बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनके संस्मरणों के कुछ उदाहरण मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"जयपुर राज्य का एक छोटा-सा अजैन गाँव है। सम्भव है, जब से यह बसा हो, तब से यहाँ की भूमि को किसी जैन साधु के चरण-स्पर्श का सौभाग्य न मिला हो। हम लोग अजमेर से आते हुए, विहार-यात्रा को छोटी करने के उद्देश्य से इधर आ गए हैं और भिक्षा के लिए घर-घर अलख जगा रहे हैं।

परन्तु यहाँ भिक्षा कहाँ? गाँव बहुत गरीब मालूम होता है। क्या मकान, क्या कपड़े, क्या भोजन और क्या मनुष्य—सब पर दरिद्रता की मुद्रा स्पष्टतः उभरी हुई दिखाई देती है। जहाँ भी पहुँचते हैं, एकमात्र नकार में ही उत्तर मिलता है और वह भी तिरस्कार, घृणा एवं अभद्रता से सना!"

× × ×

"बड़ी शानदार बम्बई-नुमा हवेली है। आर्थिक शक्ति का खासा अच्छा दुरुपयोग किया है। सेठ जी नहीं मिले, हम ऊपर आहार लेने चढ़े। एक मंजिल से दूसरी मंजिल, और दूसरी से तीसरी। मैंने साथी से हँसते हुए कहा—'चढ़े चलो, तुम्हें तो जीते जी ही स्वर्ग-यात्रा करनी पड़ गई। पता नहीं, इस स्वर्ग में तुम्हें कुछ मिलेगा भी या नहीं?'

'क्यों न मिलेगा?'

'स्वर्ग जो ठहरा!'

'स्वर्ग में तो सब कुछ मिलना चाहिए?'

'स्वर्ग में और सब कुछ भले ही मिल सके, पर रोटी नहीं मिलती। रोटी तो मानव-लोक का ही आविष्कार है।"

× × ×

"क्या मिला और क्या न मिला, यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न है, देने की भावना का। मेरा साथी बड़ा घर सुनकर आया था। परन्तु मैं विचार करता रहा—क्या यही बड़ा घर है? यदि यही बड़ा घर है, तो छोटे घर की क्या परिभाषा होगी? सोने के कंगनों से हरदम दमकते रहने वाले हाथ! और फिर इतने दरिद्र! इतने कंगाल! सदा और सर्वत्र श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाने वाले साधु के सामने आकर भी जब आधी रोटी वापस लौट गई है, तब फिर किसी गरीब गृहस्थ की इस स्वर्ण-द्वार पर क्या दशा होती होगी?"

× × ×

"अठारह वर्ष का वह बिल्कुल नया उभरता हुआ यौवन, सुगठित और सुदृढ़ शरीर ! अंग-अंग में वानर हनूमान की सी स्फूर्ति ! जब भी उपाश्रय में आ जाता, बड़ा भला लगता था। जिस किसी के भी परिचय में आ जाता, वह भूलता न था। आज के युग में, फिर कालेज की शिक्षा में, इस पर भी धनीमानी घर का लाड़ला सुपुत्र होकर भाग्य से ही कोई युवक सत्य-पथ पर चलता है ! परन्तु हमारा राजेन्द्र यह सब कुछ होकर भी व्यर्थ की झंझटों और बुरी आदतों से परे था। न वह सिगरेट-बीड़ी पीता था, न वह किसी अन्य मटर-गश्ती में रहता था। नहीं पता, वह पूर्व-जन्म से क्या संस्कार लेकर आया था कि प्रारम्भ से ही, होश संभालते ही साहित्य के प्रति अनुराग रखने लग गया था।

दो-एक बार मुझे वह आगरा कालिज के बाहर, अपने कालिज के साथियों के साथ मिला है। ज्यों ही वह हम मुनियों को देखता, श्रद्धा से चरण छूकर वन्दना करता। उसे संकोच नहीं होता कि मैं इन नटखट कालेजियट साथियों के सामने यह क्या कर रहा हूँ ? आज के हमारे नवयुवकों में यह दबंगपन बहुत कम हो गया है। साथियों के साथ होते हुए इस प्रकार चरण-स्पर्श करना, उनके लिए लज्जा की बात है। मैं समझता हूँ, राजेन्द्र का आदर्श उन युवकों के लिए अनुकरण की चीज है।"

× × ×

"श्रद्धेय प्यारचन्द जी महाराज के साथ मेरा प्रथम परिचय अजमेर सम्मेलन के अवसर पर हुआ था, परन्तु वह एक अल्प परिचय था। उनके मधुर व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचय लोहामंडी—आगरा में हुआ था, जब कि वे अपने पूज्य गुरुदेव दिवाकर जी महाराज की सेवा में थे और कानपुर का वर्षावास समाप्त करके आगरा लौटे थे। उस अवसर पर मैं भी दिल्ली से आगरा आया था। कतिपय दिवसों का वह मधुर मिलन आज भी मेरे जीवन की मधुर संस्मृतियों में से एक है, जिसको भूलना-भुलाना सहज सरल नहीं है। वे मधुर क्षण, जिन्होंने गहन परिचय की आधार-शिला बनकर दो व्यक्तियों को निकट से निकटतर लाने का महान् कार्य किया—कैसे भुलाए जा सकते हैं ?"

× × ×

"दुपहर का समय है। गुरुद्वारा में ठहरे हुए हैं। सिक्खों का नियम है कि नंगे सिर वालों को गुरुद्वारा के अन्दर, जहाँ गुरु ग्रन्थ-साहब विराजमान होते हैं, नहीं घुसने देते। परन्तु ग्रन्थी जी बड़े भावुक हृदय के मालिक हैं। हमें आज्ञा मिल गई है कि जहाँ चाहें अन्दर आराम कर सकते हैं, सन्तों के लिए कोई रुकावट नहीं। गुरुद्वारा के अन्दर एक ऊँची-सी वेदी है, जिस पर एक छोटा-सा खटोला है, उस पर गुरु का शरीर यानी ग्रन्थ-साहब विराजमान हैं। गुरु ग्रन्थ-साहब को सिक्ख गुरु का शरीर कहते हैं। वैसे तो सिक्ख मूर्ति-पूजक नहीं हैं, किन्तु मूर्ति-पूजा के नाम से हिन्दू-धर्म में जो कुछ भी होता है, वह सब गुरु ग्रन्थ-साहब के प्रति किया जाता है। उसी तरह छत्र होता है, उसी तरह चँवर ढलता है, उसी तरह फूल चढ़ाए जाते हैं, उसी तरह सुबह-शाम आगे कीर्तन होता है, अर्थात् सब कुछ वही होता है, फिर भी आदर्श है कि सिक्ख मूर्ति-पूजक नहीं हैं।"

× × ×

"शिमला जाने वाली सड़क के किनारे ही धर्मशाला में ठहरे हुए थे। रात भर आसनों पर करवटें बदलते रहे, जम कर नींद नहीं आई। सड़क पर आती-जाती मोटरें विचित्र स्वर में चीखें जो मारती रहीं। शहरों के इन वैज्ञानिक भूतों ने पहाड़ों की शान्ति भी किस बुरी तरह भंग कर डाली है कि मनुष्य इतनी दूर आकर भी सुख की नींद नहीं हो सकता। भारत की अमीरी भूखों को दान देने से सिमटी, गरीब भाई-बन्धुओं की सहायता करने से सिमटी, देश की औद्योगिक उन्नति करने से सिमटी—अर्थात् सब ओर से भलाई के क्षेत्र से सिमट-सिमटाकर आज मोटर पर सवार हो गई है और शिमला जैसे स्थान पर आने-जाने में, शान्त वातावरण को अपनी चीत्कार तथा दुर्गन्ध से दूषित बनाने में, पैदल चलते राहगीरों को तंग करने में अपने वैभव का प्रदर्शन कर रही है।"

× × ×

"माल रोड पर यौवन शाम के समय आता है, जब कि अँग्रेज युवतियाँ अर्ध-नग्न दशा में, बड़ी सज-धज के साथ, तितलियों की तरह फुदकती हुई सौदा खरीदनें आती हैं। आज इंगलैण्ड पर संकट की काली घटाएँ घुमड़ रही हैं, बीसवीं शताब्दी के रणचण्डी भक्त 'हिटलर' का चारों ओर आतंक छाया हुआ है। एक के बाद एक—अनेक देशों

की स्वतंत्रता देखते ही देखते स्वप्न हो गई है। प्रतिदिन हजारों नौजवान युद्ध के मैदान में खून की होली खेलते हुए कराल काल के गाल में पहुँच रहे हैं। इंगलैण्ड का बच्चा-बच्चा विजय पाने की धुन में अपने राष्ट्र के लिए सर्वस्व निछावर करने को तैयार है। परन्तु यहाँ भारत में अँग्रेज महिलाएँ अपनी उन्हीं पुरानी रंग-रेलियों में मस्त हैं, वही सजधज, वही राग-रंग, वही नाज-नखरे, वही रस-भरे कह-कहे! युद्ध में विजय पाने के लिए देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने जीवन में विलासिता के स्थान में कर्मठता लाने की आवश्यकता है।"

× × ×

"मार्ग में यह अँग्रेज बालक, पाँच-छः वर्ष का, मुख-पत्ती की ओर संकेत करके पूछ रहा है कि—'बाबा! यह क्या लगाया हुआ है?' कहिए, इसे मुख-वस्त्रिका की क्या फिलासफी समझाएँ? इसकी जिज्ञासा-वृत्ति पर हमें बड़ी प्रसन्नता है, किन्तु यह पूर्ण तथ्य को समझ कैसे सकता है? मैंने संक्षेप में समझाते हुए कहा—'भइया! हम जैन साधु हैं, यह हमारी निशानी है।' इतने में ही एक प्रौढ़ अँग्रेज महिला इधर आ निकली हैं। इनको भी मुख-वस्त्रिका के सम्बन्ध में उत्कट जिज्ञासा है। हाँ, इन्हें खूब अच्छी तरह समझा दिया है, और इस पर ये बड़ी प्रसन्न हैं....।"

यात्रा-वर्णन

यात्रा-वर्णन भी साहित्य का एक प्रमुख अंग है। यात्रा-वर्णन में लेखक को बहुत ही सतर्क और सावधान रहना पड़ता है। वह जो कुछ देखता है और जो कुछ सुनता है, उसे अपनी अनुभूति की तुला पर तोल कर लिखना पड़ता है। यात्री जब सुदूर देशों में जाता है, तो वह वहाँ पर वहाँ के लोगों की सभ्यता और संस्कृति के परिचय में आता है। एक यात्री जब दूसरे देश में जाता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि वह वहाँ के लोगों के शील और स्वभाव को भी जाने। यात्रा-वर्णन एक जीती-जागती कहानी होती है। प्राचीन भारत में जो विदेशी लोग भारत में आए थे, उन्होंने जो भारत का वर्णन किया है, वह वर्णन आज हमारे लिए एक इतिहास बन गया है। इन सब दृष्टियों से यह कहा जा सकता है कि यात्रा-वर्णन साहित्य का एक मुख्य अंग है।

कवि श्री जी ने अपनी साहित्य-रचनाओं में यात्रा-वर्णन को भी स्थान दिया है। सन्त घुमक्कड़ होता है। वह प्रायः घूमता ही रहता है। कवि श्री जी ने भी अपने जीवन में लम्बी-लम्बी यात्राएँ की है। उनकी शिमला-यात्रा के कुछ संस्मरण, जो स्वयं उन्होंने अपनी कलम से लिखे हैं, उनके कुछ अंश यहाँ दे रहा हूँ—

"प्रतिक्रमण से निवट चुके हैं। दीवान भगतराम जी तथा कुछ अन्य सज्जनों से वर्तालाप हो रहा है। दीवान भगतराम जी पंजाब के एक अच्छे प्रसिद्धि-प्राप्त इंजीनियर हैं। आप फैक्टरी में प्रारम्भ से ही एक ऊँचे पद पर काम कर रहे हैं। हाँ, तो आपका प्रश्न हो रहा है कि—'जैन-धर्म में परमात्मा का क्या स्थान है?' मैंने कहा—'जैन-धर्म

में परमात्मा का स्थान अवश्य है, किन्तु वैसा नहीं, जैसा कि हमारे दूसरे पड़ोसियों के यहाँ है। जैन-धर्म मानता है कि आत्मा से अलग परमात्मा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। आत्मा ही जब कर्म-बन्धन से आजाद हो जाता है, वासनाओं से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है, तब वही परमात्मा बन जाता है। परमात्मा हमारे यहाँ एक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक पद है, जिसे हर कोई आत्मा अपनी साधना के द्वारा पा सकता है—"**परमश्चासौ आत्मा परमात्मा।**"

दीवान जी ने बीच में ही कहा—"इसका अर्थ तो यह हुआ कि कोई एक ईश्वर नहीं है, प्रत्युत अनेक ईश्वर हैं। जब यह बात है, तो सृष्टि कौन बनाता है? कर्मों का अच्छा-बुरा फल कौन भुगताता है?" मैंने उत्तर दिया—"हाँ, 'एक ही ईश्वर है', हम ऐसा नहीं मानते। स्वरूप की दृष्टि से, गुणों की दृष्टि से तो सब ईश्वर एक ही हैं, कोई भिन्नता नहीं। परन्तु व्यक्तिशः वे अनेक हैं, एक नहीं।"

× × ×

"गुजरातियों की साहित्यिक अभिरुचि भी खूब बढ़-चढ़कर है। इधर-उधर घूमते-फिरते, लाला रघुनाथदास कसूर तथा मिस्टर दलाल भडुच वालों को दर्शन देते हुए एक ओर से जा रहे थे कि बड़ा ही भव्य एवं विशाल भवन दृष्टिगोचर हुआ। पूछा, तो पता चला कि—'लायब्रेरी' है। हम में भी कितने ही पुस्तकों के पुराने मरीज थे, फिर क्या था, झट अन्दर दाखिल हो गए। अँग्रेजी, उर्दू, हिन्दी का खासा अच्छा संग्रह था। परन्तु आश्चर्य तो हुआ—गुजराती साहित्य का सबसे अधिक संग्रह देखकर! श्री रमण और के० एम० मुन्शी के सुन्दर गेट-अप वाले उपन्यास आलमारी के शीशों में से चमचमा रहे थे। गुजरात प्रान्त से इतनी दूर पंजाब में, वह भी एकान्त पहाड़ी प्रदेश में गुजराती साहित्य का इतना सुन्दर एवं विस्तृत संग्रह, वस्तुतः गुजरातियों की सुप्रसिद्ध साहित्यिक अभिरुचि एवं मातृभाषा की प्रगाढ़ भक्ति का परिचायक है।"

× × ×

"शिमला के दर्शनीय स्थानों में गिरजा का महत्व अच्छा है। प्रोटेस्टेन्टों का गिरजा ऊपर के मैदान में है, जो कि 'गिरजा का मैदान' के नाम से ही प्रसिद्ध है। गिरजा बड़ा सुन्दर, भव्य एवं विशाल है, किन्तु कला की दृष्टि से यहाँ कोई विशेषता नहीं है। हाँ, स्वच्छता एवं

शान्ति का वातावरण खासा अच्छा है। गिरजा में एक वाद्य है, जिसका नाम ओरगन है। सौ रुपए मासिक पर एक अंग्रेज महिला वाद्य बजाने के लिए नियत है। यह वाद्य हाथ से नहीं, बिजली से बजाया जाता है। रविवार के साप्ताहिक सत्संग में जब यह ओरगन बजता है, तो तीन हजार स्वरों का यह भीमकाय वाद्य, अपने सुमधुर गंभीर घोष से आकाश-पाताल एक कर देता है। गिरजा में बैठने वालों के लिए अच्छी व्यवस्था है। प्रत्येक बैंच बराबर है, न कोई ऊंचा, और न कोई नीचा। वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ की सीटें सबसे आगे हैं, किन्तु वे भी औरों के बराबर ही हैं, ऊँची नहीं। यह भी नियम नहीं है कि इन पर वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ के अतिरिक्त दूसरा कोई बैठ ही नहीं सकता। जब वाइसराय और कमाण्डर इन-चीफ उपस्थित नहीं होते हैं, तब दूसरे साधारण सज़्जन भी आकर इन सीटों पर बैठ जाते है। प्रस्तुत नियम से मेरा भावुक हृदय अधिक प्रभावित हुआ। धर्म-स्थानों में भी अपने अहंत्व पर लड़ने-झगड़ने वाले भारतीय सज्जन—जरा इस ओर लक्ष्य दें।"

गद्य-गीत

भावना सापेक्ष गद्य-काव्य के अन्तर्गत गद्य-गीत और शब्द-चित्र की गणना की जाती है। गद्य-गीत, वास्तव में गद्य और पद्य के बीच की वस्तु है। स्वयं 'गद्य-गीत' शब्द में ही गद्य और पद्य का समन्वय किया गया है। निबन्ध के निकट होकर भी गद्य-गीत उससे सर्वथा भिन्न है। क्योंकि गद्य-गीत में एक ही भाव की तीव्रता रहती है। आकार में यह छोटा होता है। कवि जब अपने हृदय की किसी कोमल वृत्ति को कविता या छन्द में व्यक्त नहीं कर पाता, तब वह गद्य-गीत लिखता है, जिससे इसमें पद्य की भाव-प्रधानता और संगीतात्मकता गद्य के स्वच्छन्द प्रवाह से मिल जाती है। कविता में छन्द का नियम रहता है, किन्तु गद्य-गीत में वह नियमित नहीं रहता। पद्य-गीतकार अपनी व्यक्तिगत सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों को प्रकट करता है। किन्तु एक गद्य-गीत में एक ही भाव या संवेदना होती है। उसका भावावेग तीव्र होता है, भाषा सरस, मधुर और संगीतमय रहती है। गद्य-गीत में गीतकार अपने भावों को सुन्दर भाषा और मनोहर शैली में अभिव्यक्त करता है।

कवि श्री जी ने गद्य-गीत भी लिखे हैं। उनके गद्य-गीतों की भाषा मधुर, शैली सुन्दर और भावाभिव्यक्ति मनोहर होती है। गद्य-गीत लिखते समय वे बहुत ही भावना-शील और कल्पना-शील हो जाते हैं। उनकी भावुकता और कल्पनाशीलता उनके गद्य-गीतों में बहुत ही सुन्दर रूप में प्रस्फुटित होती है। समय-समय पर उनके गद्य-गीत सामाजिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं।

परन्तु उनके कुछ गद्य-गीत ऐसे भी हैं जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके हैं। समय आने पर मैं उन गद्य-गीतों का स्वतंत्र रूप में प्रकाशन का प्रयत्न करूंगा। कवि श्री जी के गद्य-गीतों का विषय—धर्म, दर्शन, संस्कृति, समाज अथवा किसी महापुरुष के जीवन की घटना-विशेष होता है। मैं यहाँ पर उनके कुछ गद्य-गीतों के उद्धरण दे रहा हूँ—

"आफतों की बिजलियाँ
अविराम-गति गिरती रहें!
खंडशः तनु हो,
तथा निज रक्त की
धारा बहें!
भय-भ्रान्त होकर,
लक्ष्य से,
तिल मात्र हट सकता नहीं!
उत्साह का
दुर्दम्य तेजः पुञ्ज,
घट सकता नहीं।
मैं चढ़ रहा हूँ,
नित्य
विमलाचरण के सोपान पर,
पा रहा हूँ,
नित्य जय
आसक्ति के तूफान पर!
बुद्ध जिन वर, और
हरि हर, गॉड, पैगम्बर, खुदा,
वस्तुतः मुझ में,
सभी हैं,
है न, कोई भी जुदा!"

× ×

"हे श्रमण-संस्कृति के अमर देवता!
तू वीर था, महावीर था!

मन के विकारों से—
लड़ने वाला प्रचण्ड योद्धा !"
और हाँ,
"तू वर्द्धमान भी तो था,
सतत उत्तरोत्तर बढ़ने वाला !
तू ने आगे बढ़ कर—
पीछे हटना, कभी जाना ही नहीं !"
हाँ, तो—
"तू जब आया,
भारतवर्ष घोर अन्धकार से घिरा था !
अमावस की काली रात छाई हुई थी !"
भारत के—
"धर्म पर,
कर्म पर,
संस्कृति पर,
सभ्यता पर।
कुछ लोग अन्धकार को ही प्रकाश मान बैठे थे !"
और—
"कुछ लोग ऐसे भी थे,
जो प्रकाश की खोज में इधर-उधर भटक रहे थे !
मानव-जीवन की सब-की-सब पगडंडियाँ,
अन्धकार में विलुप्त हो चुकी थीं।
भटके यात्रियों को नहीं मिल रही थी—
जीवन की सही राह !"
ऐसे समय—
"तू सौभाग्य से आया,
दिव्य प्रकाश बनकर आया !
मानवता के पथ पर-
जगमग-जगमग करता,
अन्धकार से लड़ता !"
साथ ही—
"तू जात-पाँत से लड़ा

वर्ण-व्यवस्था से लड़ा,
ईश्वर से लड़ा,
देवी-देवताओं से लड़ा,
भोग-वासना से लड़ा, और
निष्क्रिय त्याग से भी लड़ा !"
किं बहुना ?
"तुझे सब प्रकार के पाखण्ड, और
अत्याचार से लड़ना पड़ा !
बड़े-बड़े झंझावात आए,
प्रचण्ड तूफान भी आए !"
परन्तु फिर भी—
तू बुझा नहीं,
कँप-कँपाया तक नहीं !
प्रत्युत—
अधिकाधिक प्रकाशमान होता चला गया !
तेरे ज्ञानालोक की प्रभा दूर-दूर तक फैली,
सब-दिग-दिगन्त आलोकित हो उठे !
भूले-भटकों ने राह पायी, और
अन्धकार पर प्रकाश विजयी हुआ !"

कहानी-कला

कल्पना-सापेक्ष गद्य-काव्य का एक रूप उपन्यास है और दूसरा कहानी। आरम्भ में कहानी का साहित्यिक मूल्य नहीं था। घरेलू जीवन में कहने के कारण इसका नाम 'कहानी' पड़ गया। किन्तु आज कहानी का स्वतंत्र रूप कलात्मक अस्तित्व है। उपन्यास और कहानी के तत्त्व समान ही हैं। किन्तु जिस प्रकार एकांकी और खंड-काव्य क्रमशः नाटक और महाकाव्य का एक अंश या भाग नहीं कहलाते, उसी प्रकार कहानी भी स्वतंत्र और स्वतः पूर्ण कलाकृति है। उपन्यास में जीवन के सर्वांगीण और बहुमुखी चित्र विस्तार पूर्वक दिखाए जाते हैं, अनेक प्रासंगिक घटनाओं और पात्रों के लिए भी उसमें स्थान रहता है। एक उपन्यासकार मुख्य कथावस्तु के अतिरिक्त प्रकृति-वर्णन और सामाजिक रहन-सहन आदि का भी वर्णन करके पाठकों को रस-मग्न करने की सुविधाएँ रखता है। परन्तु कहानीकार इतना स्वतंत्र नहीं है। वह अपनी मंजिल तक बिना विश्राम किए सीधा पहुँचना पसन्द करता है। उसके पास इतना समय तो नहीं होता। कहानी के लिखने और पढ़ने में एक बैठक पर्याप्त समझी जाती है। वह उपन्यासकार के समान विशाल किन्तु विहंगम-दृष्टि से जीवन को नहीं देखता, अपितु उसके एक महत्वपूर्ण भाग को गहरी और तीव्र दृष्टि से देखकर अपनी कल्पना से उसका मार्मिक संक्षिप्त चित्र चित्रित कर देता है।

कहानी विकास-शील कलाकृति है। अतः इसकी निश्चय परिभाषा देना कठिन है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने कहानी का भिन्न-भिन्न लक्षण दिया है। प्रेमचन्द—"जीवन के किसी एक अंग या मानव के एक भाव

को प्रदर्शित करना" ही कहानी की परिभाषा समझते हैं। श्यामसुन्दर दास के शब्दों में—"आख्यायिका एक निश्चय लक्ष्य या प्रभाव को लेकर जीवन आख्यान है।" पश्चिमी कहानीकार 'एडगर एलिन पो' पाठक पर एक ही प्रभाव डालने वाली संक्षिप्त रचना को 'कहानी' कहते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए इतना कहा जा सकता है कि—"कहानी जीवन के किसी एक अंग या मनोभाव को प्रदर्शित करने वाली संक्षिप्त स्वतः पूर्ण रचना है, जिसका लक्ष्य या प्रभाव एक ही होता है।"

कहानी के तत्त्व :

उपन्यास की भाँति कहानी के भी छह तत्त्व माने जाते हैं—१. वस्तु, २ पात्र, ३. सम्वाद, ४. वातावरण, ५. शैली, और ६. उद्देश्य।

कथावस्तु—कहानी में जीवन का चित्र नहीं, अपितु झलक होती है। अतः कहानीकार जीवन के एक ही विन्दु को केन्द्र वनाकर उसका अधिक गहराई तक निरीक्षण करता है। उसकी सीमा छोटी, किन्तु संवेदना तीव्र और सघन होती है। उपन्यास के समान उसके ऊपर विशाल महल नहीं वनाया जाता। इसमें वस्तु स्वयं ही कहानी का रूप वन जाती है। सारी कथा में एक-रूपता रहती है, जो अन्त में एक ही प्रभाव को उत्पन्न करती है। अतः अनावश्यक प्रसंग और विस्तार इसमें नहीं होता। संक्षेप में कहानी की सबसे वड़ी विशेषता है। कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए इसके पाँच अंग माने जाते हैं—१. प्रारम्भ, २. विकास, ३. कौतूहल, ४. चरम सीमा, और ५. समाप्ति।

१. **प्रारम्भ**—कहानी का आरम्भ चाहे जैसे भी किया जाए, वह आकर्षक होना चाहिए। प्रथम पंक्ति में ही पाठक के मन को आकृष्ट करने के साथ आने वाले वातावरण की धुँधली झलक भी दीख जानी चाहिए।

२. **विकास**—विकास की अवस्था में कहानीकार पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालकर उनके क्रिया-कलापों द्वारा एक ठोस आधार तैयार करता है, जो पाठक के मन में कौतूहल जगाने में सहायक सिद्ध होता है।

३. कौतूहल—इस अवस्था में कथावस्तु विकसित होकर कौतूहल को जन्म देती है। जिज्ञासा का भाव फिर क्या हुआ ? पाठक के मन को बेचैन बनाने लगता है। इस अवस्था को 'कौतूहल' इसलिए कहा जाता है, कि कथावस्तु विकास की अवस्था को पहुँच कर शीघ्र ही घात-प्रतिघात के घटना-चक्रों से गुजर कर अनेक उलझनों को समेटती हुई कौतूहल को जागृत करती है।

४. चरम-सीमा—जब कौतूहल पात्रों की विभिन्न परिस्थितियों और उनके बाह्य अथवा अन्तर्द्वन्द्वों में प्रकट होकर कथा को गतिशील बना देता है, तब एक प्रकार की 'अनिश्चितता का क्षण' पाठक को उत्सुक बनाकर उसकी संवेदना को तीव्र कर देता है। कहानी की सफलता का रहस्य इसी अवस्था में छिपा होता है। यह 'चरम-सीमा' ही कथावस्तु का अन्तिम मोड़ होता है, जिसमें उत्सुकता या कौतूहल अपने पूर्ण वेग से दौड़ कर सहसा एक स्थान पर रुक जाता है।

५. समाप्ति—जिस प्रकार सागर का तूफान अपनी पूरी मस्ती में झूम कर अचानक थक जाता है, उसी प्रकार चरम-सीमा पर पहुँच कर कहानी की 'समाप्ति' हो जाती है। उपन्यास के समान कहानी में 'चरम-सीमा' के बाद 'उतार' की परिस्थिति नहीं आती।

पात्र—कहानी में पात्रों की संख्या थोड़ी होती है। कभी-कभी तो केवल दो पात्रों से भी काम चल जाता है। अतः कहानीकार किसी एक ही प्रधान पात्र का चरित्र लेकर उसके संवाद, क्रिया-कलाप आदि के द्वारा उसको अभिव्यक्त करता है। सभी पात्रों का पूर्ण चरित्र-चित्रण कहानी में असंभव है। अतः कहानी लेखक व्यंजना की सहायता से बहुत थोड़े में ही शक्तिशाली चरित्र का निर्माण करता है। अन्तर्द्वन्द्व दिखला कर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर भी आजकल अधिक बल दिया जाता है। चरित्र-चित्रण में लेखक नाटकीय और विश्लेषणात्मक—दोनों शैलियों से काम ले सकता है। किन्तु कहानीकार का स्वयं पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करना इतना अधिक वांछनीय नहीं समझा जाता। पात्रों के संवादों और क्रिया-कलापों के द्वारा ही उनका पात्र स्वतंत्र रूप से विकसित हो जाना चाहिए।

संवाद— कहानी को चरम-सीमा की ओर ले जाने और उसमें कौतूहल पैदा करने के लिए 'संवाद' की आवश्यकता रहती है। संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि भी संवादों के द्वारा ही सफलता-पूर्वक की जाती है। इसके अतिरिक्त पात्रों के चरित्र-चित्रण का काम भी संवादों के द्वारा लिया जाता है। कहानी के संवाद थोड़े, छोटे और सरस होने चाहिए।

वातावरण—कहानी में 'वातावरण' का अधिक प्रयोग नहीं हो सकता। लेखक को संक्षेप के कारण प्रकृति की शोभा दिखलाने अथवा जीवन की विस्तृत झाँकी उपस्थित करने का अवकाश नहीं होता। बीच-बीच में पात्रों के मनोभावों को उत्तेजित करने के लिए प्रकृति के हल्के दृश्य अवश्य रख दिए जाते हैं। कहीं-कहीं आरम्भ में और कहीं-कहीं अन्त में भी वातावरण का शब्द-चित्र देकर लेखक संवेदना की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति करता है।

शैली—कहानीकार की कृति में उसके व्यक्तित्व की छाप भी रहती है। लेखक कथावस्तु को एक प्रकार की एकता की ओर अग्रसर करने ने लिए भाषा और कल्पना का सुन्दर ताना-बाना तैयार करता है। एक सफल कहानी लेखक कहानी के सभी तत्त्वों में 'औचित्य' स्थापित करता है। लेखक में वर्णन-शक्ति के साथ-साथ विवरण-शक्ति का होना भी आवश्यक होता है। क्योंकि पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार कहानी एक प्रकार का विवरण-मात्र ही है।

उद्देश्य—कहानी का उद्देश्य मानव-मन की उदात्त भावनाओं को जगाना, उन्हें रस-मग्न करना है। केवल मनोरंजन या उपदेश देना कहानी का लक्ष्य नहीं है। यदि ऐसा होता तो 'पंचतन्त्र' की नीति-प्रधान कथाएँ और 'कथा-सरित्सागर' की मनोरंजक कथाएँ भी उत्कृष्ट कला के नमूने कही जातीं। भारतीय साहित्य-शास्त्री 'रस' को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं। इस दशा में व्यक्ति का 'अहं', 'सर्व' का रूप धारण कर लेता है। पाश्चात्य विद्वान इसी अवस्था को 'अहं से मुक्ति' और 'कल्पना से क्रीडा' कहते हैं।

कवि श्री जी ने बहुत बड़ी संख्या में कहानियाँ नहीं लिखी हैं। किन्तु जो भी कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं, उनमें कहानी-कला के समस्त

तत्त्व आ जाते हैं। वस्तु, पात्र, संवाद, शैली और उद्देश्य—ये कहानी-कला के मुख्य तत्त्व हैं। कवि श्री जी की कहानी-कला में उक्त तत्त्व बहुत ही सुन्दर रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उनकी भाषा, भाव-भंगिमा और शैली तथा कथोपकथन अपने ढंग के निराले होते हैं। जब वे किसी कहानी को लिखने बैठते हैं, तो उस कहानी के फल एवं परिणाम के सम्बन्ध में पाठकों के सम्मुख अपना एक निश्चित दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। उनकी कथावस्तु ऐतिहासिक, पौराणिक, या किसी महापुरुष के जीवन की घटना-विशेष होती है। उनकी कहानियों के पात्र सभ्य, सुसंस्कृत और मितभाषी होते हैं। उनकी कहानियों के संवादों में तर्क-वितर्क मिलता है, परन्तु शैली की मधुरता के कारण से पाठक को बोझिल-सा नहीं लगता। उनकी कहानी का अन्तिम उद्देश्य होता है—नैतिक जीवन, सांस्कृतिक अभ्युत्थान और पाप का प्रायश्चित तथा त्याग एवं वैराग्य। उनकी कहानी का प्रारम्भ जैसा मधुर होता है, उससे भी बढ़कर उसका अन्त अधिक मधुर होता है। पाठक उनकी कहानी को पढ़ते समय किसी प्रकार की परेशानी का अनुभव नहीं करता, बल्कि उनके विचार-प्रवाह में बहता हुआ सुखानुभूति करता है। मैं यहाँ पर कवि श्री जी की कहानी-कला के कुछ नमूने पाठकों के समक्ष उद्घृत कर रहा हूँ, जिससे कि पाठक उनकी कहानी-कला को समझ सकें—

"चोर वापिस जा रहा था कि संयोग वश फिर राजा और मन्त्री से उसका सामना हो गया। राजा ने मंत्री से कहा—"पूछें तो सही कि कौन है ?" मंत्री बोला—"पूछ कर क्या कीजिएगा ? यह तो वही सेठ है जो पहले मिला था और जिसने चोर के रूप में अपना परिचय दिया था !"

मगर जब वह सामने ही आ गया तो राजा के मन में कौतूहल जागा और उससे फिर पूछा—'कौन ?'

चोर—'एक बार तो बतला चुका कि मैं चोर हूँ। अब क्या बतलाना शेष रह गया ?'

राजा—'कहाँ गए थे ?'
चोर—'चोरी करने।'
राजा—'किसके यहाँ गए ?'

चोर—'और कहाँ जाता? मामूली घर में चोरी करने से कितनी भूख मिटती? राजा के यहीं गया था।'

राजा—'क्या लाए हो?'

चोर—'जवाहरात के दो डिब्बे चुरा लाया हूँ।'

राजा ने समझा—यह भी खूब है! कैसा मजाक कर रहा है!

राजा और मन्त्री महलों में लौट आए और चोर अपने घर जा पहुँचा।

सवेरे खजांची ने खजाना खोला तो देखा कि जवाहरात के दो डिब्बे गायब हैं। खजांची ने सोचा—चोरी हो गई है, तो इस अवसर से मैं भी क्यों न लाभ उठा लूँ? और यह सोचकर शेष दो डिब्बे उसने अपने घर पहुँचा दिए। फिर राजा के पास जाकर निवेदन किया—"महाराज! खजाने में चोरी हो गई है और जवाहरात के चार डिब्बे चुरा लिए गए ।"

राजा ने पहरेदारों को बुलाया। पूछा 'चोरी कैसे हो गई?'

पहरेदार ने कहा—'अन्नदाता! रात एक आदमी आया अवश्य था, परन्तु मेरे पूछने पर उसने अपने-आप को चोर बतलाया। उसके चोर बतलाने से मैंने समझा कि यह चोर नहीं है और आपका ही भेजा हुआ कोई अधिकारी है। चोर अपने-आप को चोर थोड़े ही कह सकता है'

राजा सोचने लगा—'वह तो बड़ा हजरत निकला। वास्तव में वह चोर ही था, साहूकार नहीं था। लेकिन साधारण चोर में इतनी हिम्मत नहीं हो सकती, इतना बल नहीं हो सकता। जान पड़ता है—उसे सत्य का बल प्राप्त है। वह किसी महापुरुष के चरणों में पहुँचा हुआ जान पड़ता है। वह चोर तो है, परन्तु उसकी पगडंडी बदलने के लिए सचाई का जादू उस पर कर दिया गया है। उसने सभी कुछ सत्य ही तो कहा था।'

मन्त्री ने कहा—'कुछ भी हो, चोर का पता तो लगना ही चाहिए, अन्यथा खजाने मक्खियाँ भिनकेंगी।'

बस, ढिंढोरा पिटवा दिया गया—'जिसने रात्रि में, खजाने में चोरी की हो, वह राजा के दरबार में हाजिर हो जाए।'

लोगों ने ढिंढोरा सुना तो बतियाने लगे—'राजा पागल तो नहीं हो गया है ? कहीं इस तरह भी चोर पकड़े गए हैं ? चोर राज-दरबार में स्वयं आकर कैसे कहेगा कि मैंने खजाने में चोरी की है। वाह री बुद्धिमत्ता !'

—(कथोपकथन)

"एक राजकुमार घोड़े पर सवार होकर, अस्त्र-शस्त्र से लैस और लाखों की कीमत के अपने आभूषण पहन कर सैर करने को चला। आगे बढ़ा तो देखा कि गाँव के बाहर मन्दिर है और वहाँ भीड़ लगी है। वह उसी ओर गया और पास पहुँच कर, घोड़े को पानी पिलाकर पास ही एक वृक्ष से बाँध दिया। खुद भी पानी पीकर छाया में सुस्ताने लगा। उसने देखा कि सामने भीड़ में एक उपदेशक व्याख्यान दे रहे थे। उन्होंने कहा—'संसार, क्षण-भंगुर है। यह जवानी फूलों का रंग है, जो चार दिन चमकने के लिए है। और यह जीवन आत्म-कल्याण करने के लिए मिला है। यह शरीर क्या है ? लाश है ! मिट्टी है ! हड्डियों का ढाँचा है। इससे खेती की, तो मोतियों की खेती होगी, नहीं तो यह लाश सड़ने के लिए है !"

—(आरम्भ)

"मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भारतवर्ष के बड़े ही प्रभावशाली सम्राट् हुए हैं। भारतवर्ष का गौरव, इनके राज्य में बहुत ऊँचाई पर पहुँचा हुआ था। इनके राज्य की सीमा काबुल-कंधार तक फैली हुई थी। ये पाटलीपुत्र (पटना) के राजा थे। इन्होंने यूनान देश के सम्राट् सैल्यूकस को युद्ध में पराजित किया था और सैल्यूकस की पुत्री हेलन के साथ विवाह किया था।"

—(आरम्भ)

"सोने का सिंहासन बहुत बुरा है। इस पर बैठ कर अच्छे-अच्छे देवता भी राक्षस हो जाते हैं। बनवीर कुछ दिन तो न्याय-नीति से राज-काज करता रहा, परन्तु आगे चलकर उसके हृदय में स्वार्थ का भूत हुड़दंग मचाने लगा। 'मैं ही क्यों न सदा के लिए राजा बन जाऊँ?'

'उदयसिह यदि राजा वना तो क्या मुझे फिर यों ही इधर-उधर गुलामी में चक्कर काटना पड़ेगा ?"—इन दुर्विचारों में वह एक वार वह गया, फिर लौट न सका। इधर-उधर से चन्द लोलुप समर्थ अधिकारी भी आ मिले। नर-राक्षसों का गुट मजबूत हो गया।"

—(शैली)

"पन्ना निराशा के भँवर मे चक्कर खाती हुई उदयसिह को लेकर लौटने को ही थी कि अन्दर के कमरे से शरीर पर सत्तर-अस्सी से भी कुछ अधिक वर्षो की पुरातनता का भार लादे हुए किन्तु मन के कण-कण में नव स्फुटित तरुणाई को भी फीका कर देने वाला अदम्य साहस लेकर एक बुढ़िया वाहर निकली।

"आस्सा, यह मैं अन्दर क्या सुन रही थी ? क्या तुम्हीं पन्ना को नकार में उत्तर दे रहे थे ?"

—(पात्र)

जोवनी

जीवनी भी गद्य का एक सुन्दर रूप होता है। इसमें किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित किया जाता है। जीवन-नायक के जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं का भी लेखक को ध्यान रखना चाहिए। किन्तु उसकी समस्त दिन-चर्या का ब्यौरा देना जीवनी में आवश्यक नहीं होता। जोवनी-लेखक को अपने नायक के विचारों और दृष्टिकोणों को निष्पक्ष रूप से और निकट से जानने का प्रयत्न कर लेना चाहिए। उसके जीवन-दर्शन को विना पूर्ण समझे लेखक उसके साथ अन्याय कर बैठेगा। उसे लेखक के न तो इतना समीप होना चाहिए कि उसके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाए, क्योंकि ऐसा करने से लेखक उस व्यक्ति की प्रशंसा के पुल बाँध देगा, और न ही उसे इतना दूर रहना चाहिए कि उसका व्यक्तित्व नजर ही न आ सके।

जीवनी-लेखक सदा एक प्रहरी के समान ही तटस्थ निरीक्षक होता है। अपने नायक के सम्बन्ध में वह जितना भी जान सकता है या जानता है, उसे निष्कपट रूप से, यथार्थ रूप से प्रकट कर देना ही उसका काम है। व्यक्ति गुण-दोष का भंडार होता है। अतः जीवनी-लेखक को जहाँ अपने नायक के गुणों का वर्णन सच्चाई से करना चाहिए, वहाँ उसके दोषों को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से उपस्थित करना चाहिए। व्यक्तिगत राग-द्वेष से उसे सदैव ऊपर उठकर ही जीवनी लिखनी चाहिए।

'जीवनी' में जहाँ व्यक्ति के जीवन का पूर्ण विश्लेषण किया जाता है, वहाँ समग्र रूप से उसकी कथा का संश्लिष्ट या संगठित होना भी बड़ा आवश्यक है। 'प्रभावान्वित' अर्थात् प्रभाव की एकता जीवनी में सदैव अपेक्षित होती है। किन्तु जीवनी हर व्यक्ति की नहीं लिखी जाती। विशेष व्यक्तियों के प्रभावशाली जीवन को ही आधार मान कर उनके विचार और सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता है, जिससे समाज कुछ सीख सके। यथार्थ और आदर्श—दोनों के तत्त्व जिस जीवनी से पाठक को मिल सकें, वही श्रेष्ठ जीवनी मानी जाती है। हर एक मनुष्य की जीवनी न तो इतनी महत्त्वपूर्ण होती है, और न ही पाठकों को आकृष्ट कर सकती है। महापुरुष युग-प्रवर्त्तक होते हैं। अतः उनकी जीवनी में उस युग का प्रतिविम्व भी झलकता है। जीवन-चरित्र की तरह जीवनी भी गद्य का एक रूप है। इसमें किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन की महत्त्वपूर्ण एवं आदर्श घटनाओं का उल्लेख किया जाता है।

कविश्री जी अपनी साहित्य-साधना में समय-समय पर विभिन्न महापुरुषों के जीवन पर कुछ लिखते रहे हैं। ये लेख उनकी लेखन-शैली के श्रेष्ठ नमूने हैं। भगवान् ऋषभ देव, भगवान् नेमिनाथ, भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर तथा कुछ आचार्यों पर भी उन्होंने समय-समय पर संक्षिप्त जीवनी लिखी हैं। परन्तु उनकी जीवनी-कला की शैली का सबसे ताजा नमूना—'महावीर : सिद्धान्त और उपदेश" है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने भगवान् महावीर की जीवनी दी है। यह जीवनी भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से बहुत सुन्दर है। पाठकों ने इस पुस्तक को बहुत पसन्द किया है। सन् १९६० का यह प्रकाशन है। जीवनी की भाषा और शैली कैसी होनी चाहिए, इसका परिज्ञान पाठकों को उक्त पुस्तक के अध्ययन से भली-भाँति लग जाएगा। जीवन-चरित्र की भाँति कविश्री जी की जीवन-कला भी समाज में और विशेषतः साहित्य जगत् में आदर प्राप्त कर चुकी है। पाठकों के परिज्ञान के लिए मैं कविश्री जी की जीवनी-कला के कुछ उद्धरण यहाँ दे रहा हूँ -

"चैत्र का परम पावन महीना था। सर्वसिद्धा त्रयोदशी का शुभ दिन था। भगवान् का सिद्धार्थ राजा के यहाँ त्रिशला देवी जी के गर्भ से भारत-भूमि पर अवतरण हुआ। यह स्वर्ण दिन जैन-इतिहास में

अतीव गौरवशाली दिन माना जाता है। जैन-इतिहास ही नहीं, भारत के इतिहास में भी यह दिन स्वर्णाक्षरों में लिखा गया है। डूबती हुई भारत की नैया के खिवैया ने आज के दिन ही हमारे पूर्वजों को सर्वप्रथम शिशु के रूप में दर्शन दिए थे।"

"वालक महावीर का नाम माता-पिता के द्वारा 'वर्द्धमान' रखा गया था। परन्तु आगे चलकर, जव वे अतीव साहसी, दृढ़-निश्चयी और विघ्न-वाधाओं पर विजय पाने वाले महापुरुषों के रूप में संसार के सामने आए, तव से आप 'महावीर' के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए।"

× × ×

"एक वार की बात है कि देवराज इन्द्र प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए। भगवान् ध्यान में थे, वड़ी नम्रता के साथ इन्द्र ने प्रार्थना की—

"भगवन्! आपको अवोध जनता वड़ी पीड़ा पहुँचाती है। वह नहीं जानती कि आप कौन हैं? वह नहीं समझती कि आप हमारे कल्याण के लिए ही यह सब कुछ कर रहे हैं। अतः भगवन्, आज से यह सेवक श्री जी के चरण-कमलों में रहेगा। आपको कभी कोई किसी प्रकार का कष्ट न दे, इसका निरन्तर ध्यान रखेगा।"

"देवराज! यह क्या कह रहे हो? भक्ति के आवेश में सचाई को नहीं भुलाया जा सकता। अगर कोई कष्ट देता है तो दे, मेरा इसमें क्या विगड़ता है? मिट्टी के शरीर को हानि पहुँच सकती है, परन्तु आत्मा तो सदा अच्छेद्य और अभेद्य है। उसे कोई कैसे नष्ट कर सकता है?"

"भगवन्! आप ठीक कहते हैं। परन्तु शरीर और आत्मा कोई अलग चीज थोड़े ही हैं। आखिर, शरीर की चोट आत्मा को भी ठेस तो पहुँचाती ही है—यह तो अनुभव-सिद्ध वात है।"

"परन्तु यह अनुभव तुम्हारा अपना ही तो है न? मेरा तो नहीं? आत्मा और शरीर के द्वैत को मैंने भली-भाँति जान लिया है। फलतः किसी भी पीड़ा से मैं प्रभावित होऊँ, तो क्यों?"

"भगवन् ! मैं और दलील ? मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो मात्र यही जान पाया हूँ कि मैं आपका तुच्छ सेवक हूँ, सेवा में रहूँगा ही।"

"आखिर, इससे लाभ ?"

"भगवन् ! लाभ की क्या पूछते हैं ? इस लाभ का तो कुछ अन्त ही नहीं। तुच्छ सेवक को सेवा का लाभ मिलेगा, पामर आत्मा पवित्र हो जाएगी।"

"यह तो तुम अपने लाभ की बात कह रहे हो ! मैं अपना पूछता हूँ ?"

"भगवन्, सेवक को सेवा का लाभ मिले, यह भी तो आपका ही लाभ है। क्या ही अच्छा हो प्रभो, कि कोई आपको व्यर्थ ही न सताए और आप सुख-पूर्वक साधना करते हुए कैवल्य लाभ कर सकें ?"

"इन्द्र, यह तुम्हारी धारणा सर्वथा मिथ्या है !"

"भगवन्, कैसे ?"

"साधक की साधना अपने बल-बूते पर ही सफल हो सकती है। कोई भी साधक आज तक किसी देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती आदि की सहायता के बल पर न सिद्ध (पूर्ण परमात्मा) हो सका है, न अब हो सकता है और न भविष्य में हो सकेगा। सहायता लेने का अर्थ है—अपने-आप को पंगु बना लेना, सुविधा का गुलाम बना लेना। 'सुख-पूर्वक साधना'—यह शब्द साहस-हीन हृदय की उपज है। सुख और साधना का तो परस्पर शाश्वत वैर है।"

देवेन्द्र गद्गद् होकर प्रभु के चरणों में गिर जाता है। साथ रहने के लिए गिड़गिड़ाता है। शत-शत बार प्रार्थना करता है। परन्तु महावीर हर बार दृढ़ता के साथ 'नकार' में उत्तर देते हैं। यह है—"भिक्षु-जीवन का महान् आदर्श !"—'एगो चरे खग्ग विसाण कप्पो'

× × ×

"भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनों में जातिवाद की खूब खबर ली। अखंड मानव-समाज को छिन्न-भिन्न कर देने वाली जात-पाँत की कुव्यवस्था के प्रति आप प्रारम्भ से ही विरोध की दृष्टि रखते थे।"

आपका कहना था—'कोई भी मनुष्य जन्म से उच्च या नीच बनकर नहीं आता। जाति-भेद का कोई ऐसा स्वतंत्र चिन्ह नहीं है, जो मनुष्य के शरीर पर जन्म से ही लगा आता हो और उस पर से पृथक्-पृथक् जात-पाँत का भान होता हो।'

ऊँच-नीच की व्यवस्था का वास्तविक सिद्धान्त मनुष्य के अपने भले-बुरे कर्मों पर निर्भर होता है। बुरा आचरण करने वाला उच्च कुलीन भी नीच है, और सदाचारी नीच कुलीन भी ऊँच है। काल्पनिक श्रेष्ठ जातियों का कोई मूल्य नहीं। जो मूल्य है, वह शुद्ध आचार और शुद्ध विचार का है। मनुष्य अपने भाग्य का सृष्टा स्वयं है। वह इधर नीचे की ओर गिरे तो मनुष्य से राक्षस हो सकता है और उधर ऊपर की ओर चढ़े तो देव, महादेव, परमेश्वर हो सकता है। मुक्ति का द्वार मनुष्य-मात्र के लिए खुला हुआ है—ऊँच के लिए भी, नीच के लिए भी।

किसी भी मनुष्य को जात-पाँत के झूठे भ्रम में आकर घृणा की दृष्टि से न देखा जाए। मनुष्य किसी भी जाति का हो, किसी भी देश का हो, वह मानव-मात्र का जाति-बन्धु है। उसे सब तरह से सुख-सुविधा पहुँचाना, उसका यथोचित आदर-सम्मान करना—प्रत्येक मनुष्य का मनुष्यता से नाम पर सर्व-प्रधान कर्तव्य है।

भगवान् उपदेश देकर ही रह गए हों, यह बात नहीं। उन्होंने जो कुछ कहा, उसे आचरण में लाकर समाज में अदम्य क्रान्ति की भावना भी पैदा की।

आर्द्रकुमार जैसे आर्येतर जाति के युवकों को उन्होंने अपने मुनि-संघ में दीक्षा दी। हरिकेशी जैसे चाण्डाल-जातीय मुमुक्षुओं को अपने भिक्षु-संघ में वही स्थान दिया, जो ब्राह्मण श्रेष्ठ गौतम को मिला हुआ था। इतना ही नहीं, अपने धर्म-प्रवचनों में यथावसर इन हरिजन सन्तों की मुक्त कंठ से प्रशंसा भी करते थे—"प्रत्यक्ष में जो कुछ भी विशेषता है, वह त्याग-वैराग्य आदि सद्गुणों की ही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च वर्णों या जातियों की विशेषता के लिए यहाँ अणुमात्र भी स्थान नहीं है। इन निम्न जातीय सन्तों को देखो, अपने

सदाचार के बल पर कितनी ऊँची दशा को पहुँचे हैं? आज इनके चरणों में देव भी वन्दन करते हैं।"

× × ×

"भगवन्, मृत्यु तो आएगी ही.......!"

"अवश्य आएगी!"

"हाँ, तो मृत्यु के अनन्तर भगवन्, मैं कहाँ जन्म लूँगा?"

"नरक में, और कहाँ?"

"भगवन्, नरक!"

"हाँ, नरक!"

"आपका भक्त, और नरक!"

"क्या कहा, मेरा भक्त?"

"हाँ, आपका भक्त।"

"झूठ बोलते हो, नरेश! मेरा भक्त होकर, क्या कोई निरीह प्रजा का शोषण कर सकता है, वासनाओं का गुलाम बन सकता है, हार और हाथी जैसे जघन्य पदार्थों के लिए रण-भूमि में करोड़ों मनुष्यों का संहार कर सकता है?...... कभी नहीं। मेरी भक्ति क्या, अपने दुष्कर्मों की ओर देखो। जीवन का सदाचार ही मनुष्य को नरक से बचा सकता है, और कोई नहीं! भक्ति में और भक्ति के ढोंग में अन्तर है राजन्!"

जीवन-चरित्र

जीवन-चरित्र को गद्य-काव्य के अन्तर्गत माना गया है। इस गद्य में कल्पना का सर्वथा अभाव रहता है। जीवन का सत्य चित्र ही सहज रूप से उपस्थित कर दिया जाता है। यद्यपि इतिहास में व्यक्तियों और घटनाओं का सत्य विवरण रहता है, तथापि जीवन-चरित्र से उसका अन्तर है। जीवन-चरित्र साहित्य का वह अंग है, जिसका लक्ष्य रसास्वाद माना गया है। इतिहास का काम केवल सच्चा विवरण उपस्थित करना होता है। इतिहास में अनेक व्यक्तियों एवं घटनाओं तथा तिथिक्रम की प्रधानता रहती है, जो जीवन-चरित्र में नहीं होती। जीवन-चरित्र में एक ही व्यक्ति प्रधान होता है, और समस्त घटनाएँ उसी के आस-पास घूमती हैं। जीवन-चरित्र साहित्य का एक आवश्यक अंग है।

जीवन-चरित्र गद्य का एक आवश्यक अंग है। इसमें लेखक किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन का अंकन, मधुर भाषा और सुन्दर शैली में प्रस्तुत करता है, जिसको पढ़कर पाठक अपने जीवन के लिए आदर्श स्थिर करते हैं। जीवन-चरित्र के लेखक को दो बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होता है—प्रथम उसे यह ध्यान रखना होता है कि चरित्र-नायक के जीवन की कोई घटना छूट न जाए और चरित्र-नायक के जीवन की किसी घटना का अतिरंजित वर्णन न हो जाए। चरित्र-लेखक पर दोहरा उत्तरदायित्व रहता है। एक ओर चरित्र-नायक के जीवन की यथार्थ घटनाओं का वर्णन दूसरी ओर पाठकों के सम्मुख चरित्र-नायक की वास्तविक शिक्षाओं का एवं आदर्शों का उल्लेख।

कविश्री जी ने सबसे पहला जीवन-चरित्र अपने स्वयं के दादा गुरु पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का लिखा है—"आदर्श-जीवन"। यह जीवन सन् १९३२ में लिखा गया है। इन उन्तीस वर्षों में लेखक की भाव, भाषा और शैली में बहुत बड़ा अन्तर हो गया है। 'आदर्श-जीवन' की भाषा और शैली भले ही आज के युग को पसन्द न आए, परन्तु उस युग को देखते हुए कविश्री जी की भाषा मधुर, ललित एवं प्रवाहयुक्त है। 'आदर्श-जीवन' के कुछ अंश मैं यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए उद्धृत कर रहा हूँ—

"मनुष्य के जीवन को सचमुच जीवन बनाने वाली एक वस्तु है, जिसे शिक्षा कहते हैं। शिक्षा वह है, जो मनुष्य के नाम को संसार के कोने-कोने में गुंजाती है। शिक्षा वह है, जो मनुष्य को हित-अहित कार्य का पारखी बनाती है। शिक्षा वह है, जो मनुष्य को मनुष्य से देव, और देव से महादेव बनाती है। बिना सुन्दर शिक्षा के मनुष्य वास्तविक मनुष्य नहीं बन सकता। शिक्षा-विहीन मनुष्य देखने में मनुष्य दिखाई देते हैं, परन्तु हैं वे वास्तव में बिना सींग-पूँछ के पशु। अशिक्षित मनुष्य की जीवन-यात्रा सदा कष्ट में ही बीतती है। उसे सुख का आभास स्वप्न में भी नहीं होता। अशिक्षित मनुष्य न घर में बैठने के काम का, न बाहर बैठने के काम का। घर में घर के आदमी उस पर बात-बात पर झाड़-पछाड़ फेंकते रहते हैं, तो बाहर भी बाहर वाले उसकी बात-बात में मिट्टी पलीद करते रहते हैं। अशिक्षित पंच-पंचायत में, सभा-सोसाइटी में, शिक्षित मित्र-मण्डली में बैठने का मुँह नहीं रखता। वह जहाँ जाता है, वहाँ ही जारज की तरह उपहसित होता है।"

× × ×

"अस्तु, पाठको! आपके चरित्र-नायक के माता-पिता कुछ नाम के माता-पिता नहीं थे। वे एक सच्चे माता-पिता थे। उनके विचार उन्नत थे। वे संतति शिक्षा के पूरे पक्षपाती थे। ज्ञान-प्रधान जैन-धर्म की शिक्षा से उनके वास्तविक माता-पिता के हृदय बने थे। उन्होंने अपने शिक्षा सम्बन्धी कर्त्तव्य का ध्यान रखा। जब चरित्र-नायक जी ने सातवें वर्ष में पदार्पण किया, तो पिता ने इन्हें एक सुयोग्य, सच्चरित्री शिक्षक की पाठशाला में पढ़ने बैठा दिया। अब चरित्र-नायक मन लगा

कर विद्याध्ययन करने लगे। आप पाठशाला में सबसे पहले जाते और सबसे पीछे आते। बहुत से लड़के पाठशाला में ऊधम मचाया करते हैं। प्रतिदिन अध्यापक को क्रोध दिलाया करते है। परन्तु आप इन दोषों की कालिमा से अलग थे। आप अलहदा बैठे हुए अपनी पाठ्य-पुस्तक के पाठों को हृदयगत करते रहते थे। इस प्रकार विद्याध्ययन करते हुए चरित्र-नायक को सातवाँ वर्ष समाप्त होकर आठवाँ वर्ष प्रारम्भ ही हुआ था कि काल की गति कुटिल है। यह रंग में भंग किये विना चैन नहीं पाता।"

× × ×

कविश्री जी ने गणि श्री उदयचन्द जी के 'जीवन-चरित्र' का संपादन सन् १६४८ में दिल्ली में किया था। इस जीवन-चरित्र में कवि जी महाराज की भाषा-शैली उदात्त और गंभीर तथा भाषा मधुर और सुन्दर है। पढ़ते समय पाठक को ऐसा अनुभव होता है कि वह जीवन-चरित्र को नहीं, बल्कि किसी उपन्यास को पढ़ रहा है। यह जीवन-चरित्र उपन्यास की शैली पर लिखा गया है। पाठकों में यह इतना लोकप्रिय हो चुका है कि अल्पकाल में ही इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। कविश्री जी की इस सुन्दर शैली का अनुकरण अनेक विद्वान् मुनियों ने तथा अनेक विद्वान् गृहस्थों ने किया है। वर्तमान में कई जीवन-चरित्र कविश्री जी की इसी शैली और पद्धति पर लिखे गए हैं। 'आदर्श-जीवन' की अपेक्षा प्रस्तुत जीवन-चरित्र में कविश्री जी की लेखन-कला का बहुत ही सुन्दर निखार आया है। इस दिशा में वह अन्य लेखकों के लिए आदर्श सिद्ध हुए हैं। कुछ उद्धरण देखिए—

"मध्य रात्रि है, चारों ओर गहन अन्धकार छाया हुआ है। आँखें सारी शक्ति लगाकर भी मार्ग नहीं पाती है। सुन-सान जंगल! आस-पास मनुष्य की छाया तक नहीं। सब ओर भय का साम्राज्य। अज्ञात पशु-पक्षियों की विचित्र ध्वनियाँ अन्धकार में और अधिक भीषणता उत्पन्न कर रही हैं। वर्षा की ऋतु है। काले बादल आकाश में गर्ज रहे हैं और बीच-बीच में बिजलियाँ कड़क रही हैं।"

"क्या आप बता सकते हैं, यह कौन युवक है? संभव है, आपका संकल्प कुछ निर्णय न करे। मैं ही बता दूँ", ये हमारे चरित-नायक गणी

श्री उदयचन्द्र जी हैं, जो अपने पहले के नौबत नामधारी रूप में उदय चन्द्र बनने के लिए यात्रा कर रहे हैं। अपनी गृह-गृहस्थी की मोह-माया और परिवार को अन्तिम बार त्याग कर चल पड़े हैं—पूर्ण त्याग की उच्च भूमिका पर आरूढ़ होने के लिए।"

× × ×

"पर्वत की दुर्गम घाटी में एक फूल खिलता है। सुगन्ध बिखरती है और आस-पास का वायुमण्डल महक उठता है। कोई ढिंढोरा नहीं, कोई विज्ञापन नहीं। परन्तु वह देखो, एक के बाद एक भौरों की टोलियाँ चली आ रही हैं। गुणों के कदरदान बिना बुलाए ही आ पहुँचे।"

"हाँ, तो मनुष्य ! तू भी खिलने का प्रयत्न कर ! जब तू खिलेगा और अपने सद्गुणों की सुगन्ध से समाज को महका देगा, तो प्रतिष्ठा करने वाले सज्जनों की भीड़ अपने-आप आकर घेर लेगी। तू काम कर, कभी इच्छा मत कर। तेरा महत्त्व काम करने में है, इच्छा करने में नहीं। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते फलेषु कदाचन'।

× × ×

"साधुता का मार्ग सरल नहीं है। धीर और वीर पुरुष ही इस मार्ग के सच्चे यात्री हो सकते हैं। जो मनुष्य कायर है, बुजदिल है, संकट की घड़ियों में चीख उठता है, वह साधुता के ऊँचे शिखर पर नहीं चढ़ सकता। वह साधू ही क्या, जो भयंकर दृश्यों को देखकर आँखों में आँसू ले आए।"

समीक्षा और समालोचना

समीक्षा और समालोचना साहित्य-सर्जना का एक परम आवश्यक अंग है। विना समीक्षा एवं समालोचना के साहित्य की परिशुद्धि नहीं हो सकती। साहित्यकार जिस समय साहित्य की रचना करता है, उस समय वहुत से दोप ऐसे रह जाते हैं, जो उस समय उसकी दृष्टि में नहीं आते। समीक्षक और समालोचक ही उसकी कृतियों में गुण एवं दोपों का माप-दण्ड करता है। समालोचक की दृष्टि वड़ी पैनी होती है, कोई भी दोष उसकी दृष्टि से वच नहीं सकता। साहित्य को स्वस्थ, सुन्दर और उर्वर वनाने के लिए समीक्षक और समालोचकों की नितान्त आवश्यकता है।

कवि श्री जी अपने युग के सफल कवि और सफल साहित्यकार ही नहीं, वल्कि सफल समीक्षक और समालोचक भी रहे है। उन्होंने साहित्य की गहरी समीक्षा और समालोचना की है। उनके द्वारा लिखित 'उत्सर्ग और अपवादमार्ग' निवन्ध में पाठक यह भली-भाँति देख सकते हैं कि उनकी समीक्षात्मक दृष्टि कितनी पैनी और कितनी सारग्राहिणी है। 'उत्सर्ग और अपवाद' जैसे गम्भीर विपय पर लिखना, कुछ आसान काम नहीं है। परन्तु कवि श्री जी ने इस गम्भीर विपय पर भी अपने पाण्डित्य के वल पर अधिकार-पूर्ण समालोचना की है। उसके कुछ उद्धरण मैं यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए उपस्थित कर रहा हूँ—

जैन-साधना—जैन-संस्कृति की साधना, आत्मभाव की साधना है, मनोविकारों के विजय की साधना है। वीतराग प्ररूपित धर्म में

साधना का शुद्ध लक्ष्य है—मनोगत विकारों को पराजित कर सर्वतो-भावेन आत्म-विजय की प्रतिष्ठा। अतएव जैन-धर्म की साधना का आदि-काल से यही महाघोष रहा है कि एक (आत्मा का अशुद्ध भाव) के जीत लेने पर पाँच क्रोधादि चार कषाय और मन जीत लिए गए, और पाँचों के जीत लिए जाने पर दश (मन, कषाय और पाँच इन्द्रिय) जीत लिए गए। इस प्रकार दश शत्रुओं को जीत कर, मैंने जीवन के समस्त शत्रुओं को सदा के लिए जीत लिया है।

साधना : एक सरिता—जैन-धर्म की साधना विधिवाद और निषेध-वाद के एकान्त अतिरेक का परित्याग कर दोनों के मध्य से होकर बहने वाली सरिता है। सरिता को अपने प्रवाह के लिए दोनों कूलों के सम्बन्धातिरेक से बचकर यथावसर एवं यथास्थान दोनों का यथो-चित स्पर्श करते हुए मध्य में प्रवहमान रहना आवश्यक है। किसी एक कूल की ओर ही सतत बहती रहने वाली सरिता न कभी हुई है, न वर्तमान में है, और न कभी होगी। साधना की सरिता का भी यही स्वरूप है। एक ओर विधिवाद का तट है, तो दूसरी ओर निषेधवाद का। दोनों के मध्य में से बहती है—साधना की अमृत सरिता। साधना की सरिता के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए जहाँ दोनों का स्वीकार आवश्यक है, वहाँ दोनों के अतिरेक का परिहार भी आवश्यक है। विधिवाद और निषेधवाद की इति से बचकर यथोचित विधि-निषेध का स्पर्श कर समिति-रूप में बहने वाली साधना की सरिता ही अन्ततः अपने अजर-अमर-अनन्त साध्य में विलीन हो सकती है।

उत्सर्ग और अपवाद—साधना की सीमा में प्रवेश पाते ही साधना के दो अंगों पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है—"उत्सर्ग तथा अपवाद।" ये दोनों अंग साधना के प्राण हैं। इनमें से एक का भी अभाव हो जाने पर साधना अधूरी है, विकृत है, एकांगी है, एकान्त है। जीवन में एकान्त कभी कल्याणकर नहीं हो सकता, क्योंकि वीतराग-देव संक्षुण्ण पथ में एकान्त मिथ्या है, अहित है, अशुभङ्कर है। मनुष्य द्विपद प्राणी है, अतः वह अपनी यात्रा दोनों पदों से ही भली-भाँति कर सकता है। एक पद का मनुष्य लंगड़ा होता है। ठीक, साधना भी अपने दो पदों से ही सम्यक् प्रकार से गति कर सकती है। उत्सर्ग और अपवाद—साधना के दो चरण हैं। इनमें से एकतर चरण का भी अभाव, यह

सूचित करेगा कि साधना पूरी नहीं, अधूरी है। साधक के जीवन-विकास के लिए उत्सर्ग और अपवाद आवश्यक ही नहीं, अपितु अपरिहार्य भी हैं। साधक की साधना के महापथ पर जीवन-रथ को गतिशील एवं विकासोन्मुख रखने के लिए—उत्सर्ग और अपवाद-रूप दोनों चक्र सशक्त तथा सक्रिय रहने चाहिएँ—तभी साधक अपनी साधना द्वारा अपने अभीष्ट साध्य की सिद्धि कर सकता है।

एकान्त नहीं, अनेकान्त—कुछेक विचारक जीवन में उत्सर्ग को ही पकड़ कर चलना चाहते हैं, वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति उत्सर्ग की एकान्त-साधना पर ही खर्च कर देने पर तुले हुए हैं। फलतः जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप करते रहते हैं। उनकी दृष्टि में, एकांगी दृष्टि में अपवाद धर्म नहीं, अपितु एक महत्तर पाप है। इस प्रकार के विचारक साधना के क्षेत्र में उस कानी हथिनी के समान हैं, जो चलते समय मार्ग में एक ओर ही देख पाती है। दूसरी ओर कुछ साधक वे हैं, जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद को पकड़ कर ही चलना श्रेय समझते हैं। जीवन-पथ में वे कदम-कदम पर अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं—जैसे शिशु, बिना किसी सहारे के चल ही नहीं सकता। ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय कोटि में नहीं आ सकते। जैन-धर्म की साधना एकान्त की नहीं, अपितु अनेकान्त की सुन्दर और स्वस्थ साधना है।

जैन-संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य हरिभद्र ने आचार्य संघदास गणी की भाषा में एकान्त पक्ष को लेकर चलने वाले साधकों को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—"भगवान् तीर्थंकर देव ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है, और न किसी बात के लिए एकान्त निषेध ही किया है। भगवान् तीर्थंकर की एक ही आज्ञा है, एक ही आदेश है—"जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो, उसमें सत्य-भूत होकर रहो। उसे वफादारी के साथ करते रहो।"

आचार्य ने जीवन का महान् रहस्य खोल कर रख दिया है। साधक का जीवन न एकान्त निषेध पर चल सकता है, और न एकान्त विधान पर ही। यथावसर कभी कुछ लेकर और कभी कुछ छोड़कर ही वह अपना विकास कर सकता है। एकान्त का परित्याग करके ही वह अपनी साधना को निर्दोष बना सकता है।

साधक का जीवन एक प्रवहण-शील तत्त्व है। उसे बाँध कर रखना भूल होगी। नदी के सतत प्रवहण-शील वेग को किसी क्षुद्र गर्त में बाँधकर रख छोड़ने का अर्थ होगा—उसमें दुर्गन्ध पैदा करना तथा उसकी सहज स्वच्छता एवं पावनता को नष्ट कर डालना। जीवन-वेग को एकान्त उत्सर्ग में बन्द करना, यह भी भूल है और उसे एकान्त अपवाद में कैद करना, यह भी चूक है। जीवन की गति को किसी भी एकान्त पक्ष में बाँध कर रखना, हितकर नहीं। जीवन को बाँध कर रखने में क्या हानि है? बाँध कर रखने में, संयत करके रखने में तो कोई हानि नहीं है, परन्तु एकान्त विधान और एकान्त निषेध में बाँध रखने में जो हानि है, वह एक भयङ्कर हानि है। यह एक प्रकार से साधना का पक्षाघात है। जिस प्रकार पक्षाघात में जीवन सक्रिय नहीं रहता, उसमें गति नहीं रहती, उसी प्रकार विधि-निषेध के पक्षपात-पूर्ण एकान्त आग्रह से भी साधना की सक्रियता नष्ट हो जाती है, उसमें यथोचित गति एवं प्रगति का अभाव हो जाता है।

व्याख्या-साहित्य

कवि श्री जी ने प्राचीन आगमों पर व्याख्या एवं भाष्य भी लिखे हैं। इस सम्वन्ध में उनकी दो कृतियाँ सुप्रसिद्ध हैं—'सामायिक-सूत्र' और 'श्रमण-सूत्र'। हिन्दी साहित्य में इतनी विशद व्याख्या के साथ जैन-समाज में अन्य किसी लेखक की कोई पुस्तक नहीं है।

'सामायिक-सूत्र' जैन-साधना का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कविश्री जी ने प्राकृत के मूल-पाठों पर हिन्दी में भाष्य लिखा है। सामायिक-सूत्र में मूल-पाठ, जो कि प्राकृत में (अर्द्ध मागधी भाषा में) है, संख्या में केवल ग्यारह ही हैं। किन्तु कविश्री जी ने जो इस पर भाष्य लिखा है, उसकी पृष्ठ संख्या तीन-सौ सत्तर है। मूल-पाठों पर विस्तार के साथ व्याख्या लिखी गई है। मूल-पाठ के वाद में शब्दार्थ, फिर भावार्थ, इसके वाद में विस्तृत व्याख्या। प्रत्येक पाठ का यह क्रम है। सामायिक-सूत्र के रहस्य को समझने के लिए कविश्री जी ने प्रारम्भ में उस पर विस्तृत भूमिका भी लिखी है। यह भूमिका 'एक-सौ पैंता-लीस' पेज की है। सामायिक के प्रत्येक पहलू पर इसमें विस्तार के साथ विचार-चर्चा की गई है।

'श्रमण-सूत्र' भी सामायिक-सूत्र की तरह जैन-साधना से सम्वन्धित एक विशालकाय ग्रन्थ है। 'प्रतिक्रमण' जैन-साधना का एक अति आवश्यक अंग है। प्रतिक्रमण-सूत्र के मूल-पाठों पर कवि श्री जी ने आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक जो व्याख्या की है, उसी का नाम यहाँ पर 'श्रमण-सूत्र' है। इसकी पृष्ठ संख्या—चार-सौ अड़तालीस है। 'आवश्यक दिग्दर्शन' यह पुस्तक की विस्तृत भूमिका है, जिसमें 'षट्

आवश्यक' पर विस्तार के साथ विचारणा की गई है तथा जिसमें श्रमण-धर्म एवं श्रावकाधर्म का स्वरूप वतलाया है। इसके वाद मूल-ग्रन्थ प्रारम्भ होता है, जिसमें तीस पाठ हैं। उक्त सभी पाठों पर कवि श्री ने विस्तार के साथ व्याख्या लिखी है। श्रमण साहित्य का यह एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। अन्त में एक विस्तृत परिशिष्ट दिया गया है, जिसमें वहुत-सी ज्ञातव्य वातों का लेखक ने समावेश करके पाठकों पर महान् उपकार किया है। उक्त दोनों पुस्तकों के अध्ययन और मनन से कविश्री जी के गंभीर ज्ञान एवं वहुश्रुतता का पता लगता है। उनकी व्याख्या शैली के कुछ उद्धरण यहाँ दे रहा हूँ—

"भारत की प्राचीन संस्कृति—'श्रमण' और 'व्राह्मण' नामक दो धाराओं में वहती आ रही है। भारत के अति समृद्ध भौतिक जीवन का प्रतिनिधित्व व्राह्मण-धारा करती है और उसके उच्चतम आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व श्रमण-धारा करती है। यही कारण है कि जहाँ व्राह्मण संस्कृति ऐहिक सुख-समृद्धि, भोग एवं स्वर्गीय सुख की कलाओं तक ही अटक जाती है, वहाँ श्रमण संस्कृति त्याग के मार्ग पर चलती है, मन की वासनाओं का दलन करती है, स्वर्गीय सुखों के प्रलोभन तक को ठोकर लगाती है और अपने वन्धनों को तोड़कर पूर्ण, सच्चिदानन्द, अजर-अमर, परमात्म-पद को पाने के लिए संघर्ष करती है। व्राह्मण संस्कृति का त्याग भी भोग-मूलक है, और श्रमण संस्कृति का भोग भी त्याग-मूलक है। व्राह्मण संस्कृति के त्याग में भोग की ध्वनि ही ऊँची रहती है और श्रमण संस्कृति के भोग में त्याग की ध्वनि। संक्षेप में यह भेद है—श्रमण और व्राह्मण संस्कृति का, यदि हम तटस्थ-वृति से कुछ विचार कर सकें।"

× × ×

"जैन-धर्म के मूल तत्त्व तीन हैं—देव, गुरु और धर्म। तीनों ही नमस्कार मन्त्र में परिलक्षित हैं। अरिहन्त जीवन-मुक्त रूप में और सिद्ध विदेह-मुक्त रूप में आत्म-विकास की पूर्ण दशा—परमात्म-दशा पर पहुँचे हुए हैं। अतः पूर्ण रूप से पूज्य होने के कारण देवत्व कोटि में गिने जाते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु—आत्म-विकास की अपूर्ण अवस्था में हैं, परन्तु पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हैं। अतः अपने से निम्न श्रेणी के साधक आत्माओं के पूज्य और

अपने से उच्च श्रेणी के अरिहन्त सिद्ध स्वरूप देवत्व-भाव के पूजक होने से गुरु कोटि में सम्मिलित किए गए हैं। सर्वत्र व्यक्ति से भाव में लक्षणा है। अतः अर्हद् भाव, सिद्ध भाव, आचार्य भाव, उपाध्याय भाव, साधु भाव का ग्रहण किया जाता है। अरिहन्तों को क्या नमस्कार? अर्हद् भाव को नमस्कार है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भाव ही नमस्कार का लक्ष्य-विन्दु है, और यह भाव ही धर्म है। अहिंसा और सत्य आदि आत्म-भाव पाँच पदों के प्राण हैं। अतः नमस्कार मन्त्र में धर्म का अन्तर्भाव भी हो जाता है, उसे भी नमस्कार कर लिया जाता है।"

× × ×

"सामायिक का अर्थ है—समता। वाह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्म-निरीक्षण में मन को जोड़ना, विषम-भाव का त्याग कर सम-भाव में स्थिर होना, राग-द्वेष के पथ से हटकर सर्वत्र सर्वदा करुणा एवं प्रेम के पथ पर विचरना, सांसारिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझ कर उन पर से ममता एवं आसक्ति का भाव हटाना और ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप आत्म-स्वरूप में रमण करना– सामायिक है, समता है, त्याग है, वैराग्य है। अन्धकारपूर्ण जीवन को आलोकित करने का इससे अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं हो सकता।

सामायिक का पथ आसान नहीं है, यह तलवार की धार पर धावन है। जब तक निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान में, हानि-लाभ में, स्वजन-परजन में, एकत्व बुद्धि—समत्व-बुद्धि नहीं हो जाती, तब तक सामायिक का पूर्ण आनन्द नहीं उठाया जा सकता। प्राणिमात्र पर, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, मित्र हो या शत्रु हो—सम-भाव रखना कितना ऊँचा आदर्श है, कितनी ऊँची साधुता है! जब तक यह साधुता न हो, तब तक खाली वेष लेकर जन-वञ्चन से क्या लाभ?"

× × ×

"भूलों के प्रति पश्चात्ताप का नाम जैन परिभाषा में 'प्रतिक्रमण' है। यह प्रतिक्रमण मन, वचन और शरीर—तीनों के द्वारा किया जाता है। मानव के पास तीन ही शक्तियाँ ऐसी हैं, जो उसे वन्धन में डालती हैं और वन्धन से मुक्त भी करती हैं। मन, वचन और शरीर से वाँधे गए पाप मन, वचन और शरीर के द्वारा ही क्षीण एवं नष्ट भी होते हैं। राग-द्वेष से दूषित मन, वचन और शरीर वन्धन के लिए होते

हैं, और ये ही वीतराग परिणति के द्वारा कर्म-बन्धनों से सदा के लिए मुक्ति भी प्रदान करते हैं।"

"आलोचना का भाव अतीव गम्भीर है। निशीथ चूर्णिकार जिन-दास गणि कहते हैं कि—"जिस प्रकार अपनी भूलों को, अपनी बुराइयों को तुम स्वयं स्पष्टता के साथ जानते हो, उसी प्रकार स्पष्टता-पूर्वक कुछ भी न छिपाते हुए गुरुदेव के समक्ष ज्यों-का-त्यों प्रकट कर देना 'आलोचना' है।" यह आलोचना करना, मान-अपमान की दुनिया में घूमने वाले साधारण मानव का काम नहीं है। जो साधक दृढ़ होगा, वही आलोचना के इस दुर्गम पथ पर अग्रसर हो सकता है।"

"निन्दा का अर्थ है—आत्म-साक्षी से अपने मन में अपने पापों की निन्दा करना। गर्हा का अर्थ है—पर की साक्षी से अपने पापों की बुराई करना। जुगुप्सा का अर्थ है— पापों के प्रति पूर्ण घृणा-भाव व्यक्त करना। जब तक पापाचार के प्रति घृणा न हो, तब तक मनुष्य उससे बच नहीं सकता। पापाचार के प्रति उत्कट घृणा रखना ही पापों से बचने का एकमात्र अस्खलित मार्ग है। अतः आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा किया जाने वाला प्रतिक्रमण ही सच्चा प्रतिक्रमण है।"

सम्पादन-कला

सम्पादन-कला आज के युग की एक विशेष देन है। एक नया ग्रन्थ लिखने की अपेक्षा किसी प्राचीन ग्रन्थ का सम्पादन और संशोधन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है। स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने में लेखक को अपनी कल्पना को इधर-उधर मोड़ने के लिए पर्याप्त अवसर रहते हैं। परन्तु सम्पादन में सम्पादक को मूल लेखक के विचारों का संरक्षण करते हुए उसकी कृति में सौन्दर्य और सुषुमा लाने का प्रयत्न करना पड़ता है, जो एक बहुत कठिन काम है। इस अपेक्षा से यह कहा जा सकता है कि सम्पादन का कार्य लेखन के कार्य से गुरुतर और महान् है। आज के युग में सम्पादन-कला का बहुत महत्त्व है।

कवि श्री जी सम्पादन-कला में परम निष्णात व्यक्ति हैं। उन्होंने अपने साहित्य-सेवा काल में अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है। जिन लेखकों के ग्रन्थों का आपने सम्पादन किया है, वह सम्पादन मूल-ग्रन्थ से सुन्दर और शानदार रहा है। यही कारण है कि उन सम्पादनों को देखकर चारों ओर से आपके पास पुस्तकें आने लगीं। परन्तु आपने उस कार्य को लेने से इसलिए इन्कार किया कि आपके पास अध्ययन और सेवा के अतिरिक्त बहुत कम समय बचता था। फिर भी जिन चन्द ग्रन्थों का आपने सम्पादन और संशोधन किया है, आज भी वे आपकी योग्यता तथा पाण्डित्य के सुन्दर प्रतीक हैं, और सम्पादन-कला के आदर्श भी हैं।

दशवैकालिक-सूत्र—आपने सबसे पहला सम्पादन आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा लिखित 'दशवैकालिक सूत्र' का किया है।

भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से यह सम्पादन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। इस सम्पादन के विषय में कवि श्री जी ने स्वयं लिखा है—

"आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के 'दशवैकालिक सूत्र' का कुछ वर्ष हुए, मैंने सम्पादन किया था। वह सम्पादन प्रयत्न से कहिए अथवा भाग्य से—बहुत कुछ सुन्दर हुआ है। अतएव पाठकों को पसन्द भी आशा से अधिक आया है।"

इस पर से यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि कवि श्री जी आज नहीं, आज से बहुत पहले भी सुयोग्य सम्पादक थे। उनके सम्पादन से लेखक तथा पाठक दोनों सन्तुष्ट रहते थे। सच पूछा जाए, तो किसी भी सम्पादन की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी भी यही है।

परमात्म मार्ग-दर्शक—प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज हैं। यह ग्रन्थ बड़े साइज में है और पृष्ठ संख्या चार-सौ तीस है। इस ग्रन्थ का सम्पादन कवि श्री जी ने महेन्द्रगढ़ में किया था। लेखक ने सम्पादन के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ की भूमिका में इस प्रकार लिखा है—

"प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन का समस्त भार कविराज सिद्धहस्त लेखक, प्राकृत एवं संस्कृत के मान्य विद्वान, मुनि श्री अमरचन्द्र जी को सौंपा गया। मुनि श्री ने निरवकाश होते हुए भी भाषा-संशोधन, प्रूफ-संशोधन एवं आवश्यक संशोधन आदि कार्य अत्यन्त परिश्रम उठाकर बड़ी योग्यता के साथ किया। इसके लिए मैं आप श्री (कवि जी महाराज) का अन्तःकरण से आभार मानकर सहस्रशः धन्यवाद देता हूँ।"

जीवन-चरित्र—प्रस्तुत पुस्तक गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज का जीवन-चरित्र है। इसका सम्पादन कवि श्री जी ने अपने दिल्ली के वर्षावास में किया था। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से यह पुस्तक अपने ढंग की एक है। यह पुस्तक तीन-सौ पाँच पृष्ठों में समाप्त हुई है। इतनी बड़ी पुस्तक का इतने अल्प-काल में सम्पादन करना साधारण बात नहीं है। पुस्तक के सम्पादन के सम्बन्ध में लेखक ने इस प्रकार लिखा है—

"प्रस्तुत जीवन-चरित्र का सम्पादन हमारे महामान्य उपाध्याय कविरत्न पण्डित मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज के हाथों हुआ है। उपाध्याय श्री जैन-संसार में एक उच्च एवं प्रतिष्ठित विद्वान् माने जाते

हैं। आपकी लेखनी का चमत्कार समाज में सुप्रसिद्ध है। अस्तु, आपकी सुन्दर लेखनी का स्पर्श पाकर यह जीवन-चरित्र भी 'सोने में सुगन्ध' की कहावत को चरितार्थ कर रहा है।"

निशीथ भाष्य—प्रस्तुत महाग्रन्थ का सम्पादन कवि श्री जी ने किया है। इसमें मूल निशीथ-सूत्र, उसकी निर्युक्ति, उसका भाष्य और उसकी चूर्णि भी सम्मिलित हैं। निस्सन्देह वर्तमान युग के साहित्य में यह सम्पादन अद्वितीय और वेजोड़ है। इस ग्रन्थ का सर्वत्र आदर और सत्कार हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन वर्तमान शताव्दी में सबसे वड़ा प्रकाशन है। यह ग्रन्थ चार भागों में परिसमाप्त हुआ है। स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी कवि श्री जी ने इस ग्रन्थ को सर्व प्रकार से सुन्दर वनाने का प्रयत्न किया है। निशीथ भाष्य के प्रथम भाग की भूमिका में कवि श्री जी ने सम्पादन के सम्वन्ध में उपस्थित होने वाली वाधाओं के विषय में लिखा है—

"प्रस्तुत भीमकाय महाग्रन्थ का सम्पादन वस्तुतः एक भीम कार्य है। हमारी साधन-सीमाएँ ऐसी नहीं थीं, कि हम इस जटिल कार्य का गुरुतर भार अपने ऊपर लेते। न तो हमारे पास उक्त ग्रन्थ की यथेष्ट विविध लिखित प्रतियाँ हैं। और जो प्राप्त हैं, वे भी शुद्ध नहीं हैं। अन्य तत्सम्वन्धित ग्रन्थों का भी अभाव है। प्राचीनतम दुरूह ग्रन्थों की संपादन-कला के अभिज्ञ कोई विशिष्ट विद्वान् भी निकटस्थ नहीं है। यदि इन सव में से कुछ भी अपने पास होता, तो हमारी स्थिति दूसरी ही होती?"

प्रस्तुत महाग्रन्थ के सम्पादन के समय और सम्पादन से पूर्व भी यह विचार किया गया था कि प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ वातें हमारी परम्परा से मेल नहीं खातीं। कवि श्री जी ने इस सम्वन्ध में प्रथम भाग की भूमिका में स्पष्ट लिख दिया था कि—

"भाष्य तथा चूर्णि की कुछ वातें अटपटी-सी हैं। अतः विचार-शील पाठकों से अनुरोध है कि वे तथाभूत स्थलों का गम्भीरता से अध्ययन करें। इस प्रकार के प्रसंगों पर हंस-वृद्धि से काम लेना उपयुक्त होता है। प्राचीन आचार्यो ने अपने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, वह सव कुछ, सव किसी के लिए नहीं है, और सर्वत्र एवं सर्वदा के लिए भी नहीं है।"

अनुवाद

अनुवाद भी लेखन की एक कला है। किसी भी लेखक के भावों का भाषान्तर करना बहुत कठिन काम है। जब तक अनुवादक योग्य, विद्वान् और भाषा का पण्डित न हो, तब तक वह अनुवाद-कला में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। कवि श्री जी अनुवाद-कला में परम निष्णात व्यक्ति हैं। आपने संस्कृत से हिन्दी में और प्राकृत से हिन्दी में अनुवाद किया है। अनुवाद करते समय कविश्री जी इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि कोई भाव और कोई शब्द छुट न पाए। अनुवाद की भाषा भी आपकी सरल, सुबोध और प्राञ्जल होती है।

कविश्री जी ने गद्य और पद्य—दोनों प्रकार के अनुवाद किए हैं। प्राकृत की 'वीर स्तुति' का और संस्कृत के 'महावीराष्टक स्तोत्र' का आपने गद्य के साथ-साथ पद्यमय अनुवाद भी किया है। पद्यमय अनुवाद बहुत ही सरस और सुन्दर है। इसके अतिरिक्त बहुत से अन्य संस्कृत श्लोकों का भी कवि श्री जी समय-समय पर पद्यमय अनुवाद करते रहे हैं। उनमें से कुछ संस्कृत श्लोक, जिनका कवि श्री जी ने पद्यमय अनुवाद किया है, उन्हें मैं यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ—

मंगलं भगवान् वीरो,
मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं स्थूल—भद्रार्यो,
जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

मंगलमय भगवान् वीरप्रभु, मंगलमय गौतम गणधर।
मंगलमय श्री स्थूलभद्र मुनि, जैन-धर्म हो मंगल वर॥

सर्व—मंगल – मांगल्यं,
सर्व—कल्याण—कारणम् ।
प्रधानं सर्व धर्मानां,
जैनं जयतु शासनम् ॥

अखिल मंगलों में वर-मंगल, विश्व-शान्ति का मूल विशाल ।
सब धर्मों में धर्म श्रेष्ठतर, जय जिन-शासन जग-प्रतिपाल ॥

शिव मस्तु सर्व—जगतः,
परहित-निरताः भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं,
सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

अखिल जगत में शिव हो, सुख हो, परहित-रत हों जीव सकल ।
दोप, पाप, अपराध नष्ट हों, सुख पावें सब जन अविचल ॥

जिस प्रकार कवि श्री जी ने संस्कृत श्लोकों का पद्यमय अनुवाद किया है, उसी प्रकार प्राकृत भाषा के सम्पूर्ण सामायिक-सूत्र का पद्यमय हिन्दी अनुवाद भी किया है—

एसो पंच नमुक्कारो,
सव्व--पाव--प्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं ॥

पाँच पदों को नमस्कार यह, नष्ट करे कलिमल भारी ।
मंगलमय अखिल मगल में, पाप-भीरु जनता तारी ॥

कवि श्री जी ने गद्यमय अनुवाद तो बहुत ही अधिक किया है । 'महावीर वाणी' जो पंडित बेचरदास जी के नाम से प्रकाशित हुई है, उसका हिन्दी अनुवाद भी आपने ही किया है । 'सामायिक-सूत्र' और 'श्रमण-सूत्र' का हिन्दी अनुवाद तो आपका समाज में खूब प्रचलित और प्रसिद्ध है । 'महावीरः सिद्धान्त और उपदेश' गत मूल-गाथाओं का गद्यमय हिन्दी अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है । अनुवाद मात्र को पढ़ने से ही मूल जैसा आनन्द आ जाता है । मैं यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए गद्यमय अनुवाद के कुछ उद्धरण प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥"

—उत्तराध्ययन

"अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए। वाहरी शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ.? आत्मा के द्वारा आत्म-जयी होने वाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।"

"संवुज्झह किं न वुज्झह, संवोही खल पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥"

—सूत्रकृतांग

"मनुष्यो! जागो,.......... जागो! अरे, तुम क्यो नहीं जागते? परलोक में अन्तर्जागरण प्राप्त होना दुर्लभ है। वीती हुई रात्रियाँ कभी लौट कर नहीं आतीं। मानव-जीवन पुनर्वार पाना आसान नहीं।

"जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण स समणो ॥"

—अनुयोगद्वार-सूत्र

"जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सव जीवों को दुःख प्रिय नहीं है—यह समझकर जो न स्वयं हिंसा करता है और न दूसरों से हिंसा करवाता है, वही श्रमण है, भिक्षु है।"

इसी प्रकार कवि श्री जी की एक अन्य पुस्तक 'जिन-वाणी' भी जो अभी अप्रकाशित है, एक वहुत सुन्दर पुस्तक है, जिसमें विभिन्न शास्त्रगत गाथाओं का सुन्दर अनुवाद किया गया है। अनुवाद के क्षेत्र में कवि श्री जी ने जो काम किया है, वहुत ही उपादेय और सुन्दर है। कवि श्री जी की अनुवाद-कला अपने-आप में एक सुन्दर कला है।

शिक्षण-साहित्य

जीवन विकास के लिए शिक्षण एक परम आवश्यक तत्त्व है। शिक्षा के विना जीवन का विकास सम्भव नहीं है। शिक्षण से बौद्धिक और मानसिक विकास होता है। कवि श्री जी ने शिक्षा के क्षेत्र में भी अपना एक नया दृष्टि-कोण दिया है। शिक्षा के क्षेत्र में उनके द्वारा लिखी गई—जैनबाल-शिक्षा, भाग—१, २, ३, ४ बहु प्रचलित हैं। पाठशालाओं में उनके द्वारा लिखी हुई ये पुस्तकें ही पढ़ाई जाती हैं। उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, मालवा और मेवाड़ में इन पुस्तकों ने अच्छा आदर पाया है। कवि श्री जी ने अपनी उक्त पुस्तकों में धर्म, दर्शन और संस्कृति के गंभीर से गंभीर भावों को बहुत ही सरल भाषा में प्रकट किया है।

प्रथम भाग—इसमें पन्दरह पाठ हैं। इसमें जीवन-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों को तो बहुत ही सरल रूप में प्रस्तुत किया है। जैन कौन है? इसके उत्तर में इस प्रकार लिखा है—

"जैन वह है, जो मन के विकारों को जीतने की कोशिश करता है, जो सदा भले काम करता है।"

जैन को क्या करना चाहिए? इसके उत्तर में इस प्रकार लिखा है—

१. दोनों काल सामायिक करना।
२. नवकार मंत्र का जाप करना।
३. माता-पिता का आदर करना।

४. गुरुदेव की भक्ति करना।
५. धर्म की पुस्तकें पढ़ना।
६ भूखों को भोजन देना।
७. रोगी की सेवा करना।

द्वितीय भाग—इसमें सत्तरह पाठ दिए गए हैं, जिसमें नवकार मंत्र की महिमा तथा उपासना के लाभ वताए गए हैं। चौवीस तीर्थङ्करों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। वीर भामाशाह, भगवान् महावीर तथा सोमा सती का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। प्रश्नोत्तर पाठ में सात कुव्यसनों के परित्याग के सम्वन्ध में लिखा गया है।

तृतीय भाग—इसमें उन्नीस पाठ दिए गए हैं। जीव और अजीव के सम्वन्ध में सामान्य परिचय दिया गया है। भारतवर्प क्या है? और इसका नाम भारत क्यों पड़ा? इस सम्वन्ध में जैन-संस्कृति की दृष्टि से कहा गया है—

"आज से लाखों वर्प पहले यहाँ ऋपभदेव भगवान् हुए थे। उन्होंने ही सारी दुनिया को शस्त्रास्त्र चलाना, लिखना-पढ़ना, कृपि करना आदि अनेक प्रकार की विद्याएँ, व्यापार और शिल्प सिखाया था। उनके वड़े पुत्र का नाम भरत था। भरत वड़े प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्हीं के नाम पर हमारे देश का नाम 'भारतवर्प' पड़ गया।"

पाँच इन्द्रियों के विषय में सरल और सुवोध भापा में अच्छा परिचय दिया गया है। रात्रि-भोजन के दोपों के सम्वन्ध में वच्चों का ध्यान विशेप रूप से खींचा गया है। महारानी सीता, नल-दमयंती, और राजा मेघरथ की कहानी विशेप रूप से वच्चों के मन को आकर्पित करेगी। इसके अतिरिक्त दिवाली जैसे पर्व भी सरल भापा में लिख कर वच्चों को उसका महत्त्व वताया है।

चतुर्थ भाग—इसमें विचार और आचार का सुन्दर समन्वय किया गया है। नव तत्त्व जैसे गंभीर विपय को अत्यंत सरल भापा में प्रस्तुत किया है। जीवों के भेद, जीवों की पाँच जाति और चार गति आदि तात्त्विक विपयों को सरल रीति से वताया गया है। इसके अतिरिक्त भगवान् पार्श्वनाथ, भगवान् नेमिनाथ, राजमती, चन्दन वाला, कालका-

चार्य और चन्द्रगुप्त मौर्य आदि के जीवन से मिलने वाली शिक्षाओं की ओर भी विशेप रूप से ध्यान दिया गया है।

तीन बात—इसमें जीवन सम्बन्धी मुख्य-मुख्य सभी शिक्षाओं का समावेश हो जाता है। इस छोटी-सी पुस्तक में जिसका कि छठा संस्करण हो चुका है, कवि श्री जी ने आध्यात्मिक और नैतिक जीवन सम्बन्धी जिन तीन-तीन बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है, वह उनके साधु-स्वभाव और पाण्डित्य के अनुरूप ही है। जैसे कि—

तीन प्रकार का धर्म है—

१. श्रेष्ठ अध्ययन,
२. श्रेष्ठ चिन्तन,
३. श्रेष्ठ तपश्चरण।

तीन पर सदा अमल करो—

१. अहिंसा पर,
२. सत्य पर,
३. ब्रह्मचर्य पर।

तीन से सदा बचो—

१. अपनी प्रशंसा से,
२. दूसरों की निन्दा से,
३. दूसरों के दोष देखने से।

आदर्श कन्या—इसमें शिक्षण शास्त्र के सभी मूल तत्त्वों का समावेश हो जाता है। जैसे—धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास, समाज और जीवन। फिर भी जीवन के सम्बन्ध में विशेष लिखा गया है। इसमें अट्ठाइस विषयों पर सुन्दर, सरस और मधुर भापा में विचारों की अभिव्यक्ति की गई है। जीवन विकास के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उन समस्त गुणों का संक्षेप में अंकन किया गया है। इस पुस्तक की भापा के सम्बन्ध में मैं यहाँ पर एक उद्धरण प्रस्तुत कर रहा हूँ—'प्रेम करो, प्रेम मिलेगा'—

"यह संसार एक प्रकार का दर्पण है। तुम जानती हो, दर्पण में क्या होता है? दर्पण के आगे यदि तुम हाथ जोड़ोगी, तो वहाँ का

प्रतिविम्व भी तुम्हें हाथ जोड़ेगा। और यदि तुम दर्पण को चाँटा दिखाओगी, तो वह भी अपने प्रतिविम्व के द्वारा तुम्हें चाँटा दिखाएगा। यह तो गुम्वद की आवाज है, जैसी कहे, वैसा सुने। यदि तुम सव के साथ प्रेम का व्यवहार करोगी तो वे सव भी तुम से. प्रेम का ही व्यवहार करेंगे। और यदि तुम घमण्ड में आकर किसी प्रकार का दुर्व्यवहार करोगी, तो वदले में तुम्हें भी वही अभद्र व्यवहार मिलेगा। तुम देखती हो, वे भी तुम से हार्दिक प्रेम करती है। और जिनसे तुम घृणा करती हो, वे भी तुम से उसी प्रकार घृणा करती हैं। बुराई और भलाई वाहर नहीं, तुम्हारे अपने ही मन में है। भगवान् महावीर का यह दिव्य सन्देश सदा याद रखो कि—'अपने अन्दर देखो।'

कोयल के मीठे वोल—इस पाठ में कवि श्री जी ने मधुर भाषण और मिष्ठ वाणी के सम्वन्ध में लिखा है और कहा है कि मधुर वाणी सहज ही दूसरे को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। मधुर भाषी व्यक्ति—भले ही वह नर हो या नारी, दूसरों से अपने काम को सहज ही करा लेता है। मधुर वाणी की वीणा में वह शक्ति है कि सुनने वाला मुग्ध हो जाता है।

"जिस नारी के कण्ठ में माधुर्य होता है, उसके घर में सदा शान्ति का राज्य रहता है। और यदि कभी किसी कारण अशान्ति होती भी है, तो ज्यों ही नारी की मधुर वाणी की वीणा वजना प्रारम्भ होती है, त्यों ही वह अशान्ति लुप्त हो जाती है और उसके स्थान में सुख-शान्ति का समुद्र हिलोरें मारने लगता है। भगवान् महावीर की माता कितना मधुर वोलती थीं? भगवान् महावीर की शिष्या चन्दन वाला की वाणी में कितनी अधिक मिठास थी?"

मन्त्र-साहित्य

जैनों का मन्त्र-साहित्य वहुत ही विशाल और विस्तृत है। जैन आचार्यों ने अपने-अपने युग में आवश्यकता के अनुसार इसे पल्लवित एवं पुष्पित किया है। यह मन्त्र-साहित्य प्रायः प्राकृत और संस्कृत में है। उस सम्पूर्ण मन्त्र-साहित्य की चर्चा यहाँ नहीं करनी है। जैन-संस्कृति का मूल मन्त्र है—'महामन्त्र नवकार'। आचार्यो ने समय-समय पर इस महामन्त्र की वहुविध और विशाल व्याख्या की है। परन्तु हिन्दी भापा में इस विपय पर कोई सुन्दर पुस्तक नहीं थी। कवि श्री जी ने उस अभाव की पूर्ति 'महामन्त्र नवकार' लिखकर की है। इस डेढ़-सौ पृष्ठों की पुस्तक में कविश्री जी ने मन्त्र-साहित्य का संक्षेप में सार निकाल कर रख दिया है।

'महामन्त्र नवकार' का इसमें विस्तृत विवेचन तो है ही, किन्तु उसकी साधना के विभिन्न अंगों पर भी प्रकाश डाला है। माला कैसे फेरनी चाहिए, किस समय फेरनी चाहिए, आदि वातों पर बहुत स्पष्टता से विचार किया गया है। माला का महत्त्व वतलाते हुए कवि श्री जी साधकों को सावधान करते हैं—

"मन्त्र-सावना में माला का वड़ा भारी स्थान होते हुए भी वहुत से सज्जन इस सम्वन्ध में वड़े उदासीन होते हैं। केवल गिनती का साधारण-सा साधन समझ कर ही इसके प्रति लापरवाह नहीं होना चाहिए। माला की प्रतिष्ठा में ही मन्त्र की प्रतिष्ठा रही हुई है।

माला सूत, मूँगा और चन्दन आदि किसी भी विशुद्ध अचित्त पदार्थ की ली जा सकती है। वहुत-से लोग सौन्दर्य की दृष्टि से रंग-विरंगी माला वना लेते हैं, पर यह ठीक नहीं। माला जो भी हो, एक ही रंग की हो। यह भी ध्यान रहे कि एक चीज की माला में दूसरी चीज न लगाई जाए। माला के दाने छोटे-वड़े न हों। माला

में एक-सौ आठ दाने ही होने चाहिए। न कम, न अधिक। माला में एक-सौ आठ दाने नवकार मन्त्रोक्त पञ्च परमेष्ठी पदों के एक-सौ आठ गुणों के द्योतक हैं।"

कवि श्री जी ने साधना के उपकरणों की परिशुद्धि के विषय पर भी काफी लिखा है। हमारी साधना में हमारे शरीर का भी उपयोग होता है। शरीर को सशक्त रखने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। साधना में भोजन कैसा और कितना होना चाहिए? इसका परिज्ञान भी साधक को अवश्य होना चाहिए शरीर को साधने के लिए विभिन्न आसनों की आवश्यकता है, और मन को साधने के लिए ध्यान की। कविश्री जी ने अपनी पुस्तक में 'आसन और ध्यान' पर बहुत ही सुन्दर लिखा है। मन्त्र-जप की पद्धति के विषय में भी प्रकाश डाला गया है। जबकि साधना के विषय में लिखते हुए कविश्री जी ने जप के तीन भेद बताए हैं, जो इस प्रकार हैं—

जप के मुख्यतया तीन भेद हैं—मानस, उपांशु और भाष्य।

मानस-जप—वह है, जिसमें मन्त्रार्थ का चिन्तन करते हुए मात्र मन से ही मन्त्र के वर्ण, स्वर और पदों की बार-बार आवृत्ति की जाती है।

उपांशु-जप—इसमें कुछ-कुछ जीभ और होंठ चलते हैं, अपने कानों तक ही जप की ध्वनि सीमित रहती है, दूसरा कोई सुन नहीं सकता।

भाष्य-जप—वाणी के द्वारा स्थूल उच्चारण है। इसमें आस-पास रहने वालों को भी जप की ध्वनि सुनाई पड़ती है। आचार्यों ने सब से श्रेष्ठ मानस-जप को बतलाया है। उनका कहना कि भाष्य-जप से सौ गुना उपांशु और सहस्र गुना मानस जप का फल है। साधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रमशः शक्ति बढ़ाता हुआ भाष्य, उपांशु और मानस-जप का अभ्यास करे।"

महामन्त्र नवकार के सम्बन्ध में जो भी कुछ ज्ञातव्य और उपादेय है, वह सब इस पुस्तक में संक्षेप में देने का प्रयत्न किया गया है। महामन्त्र नवकार, जो कि 'जिन वाणी' का सार है, उसकी साधना के सम्बन्ध कविश्री जी ने प्रस्तुत पुस्तक में बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। मन्त्र-साहित्य में, भले ही यह पुस्तक छोटी ही क्यों न हो, किन्तु कवि श्री जी की एक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण कृति है।

स्तोत्र-साहित्य

जैन-साहित्य में स्तोत्र-साहित्य भी एक विशाल साहित्य है। जैन आचार्यों ने आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर बहुविध स्तोत्र-साहित्य की रचना की। स्तोत्र-साहित्य की भाषा प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, अपभ्रंश और विभिन्न प्रान्तीय भाषाएँ रही हैं। स्तोत्र-साहित्य का विषय विशेषतः तीर्थङ्कर, गणधर एवं संयमी साधुजन रहे हैं। परन्तु विभिन्न देवी-देवताओं को लेकर भी स्तोत्रों की रचना हुई है।

स्तोत्र-साहित्य में कुछ स्तोत्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं। जैसे कि—भक्तामर, कल्याणमन्दिर, वीर स्तुति और उपसर्ग-हर स्तोत्र। इन स्तोत्रों के सम्बन्ध में जैन-जनता के मन में अत्यन्त श्रद्धा और गहन निष्ठा के भाव हैं। कवि श्री जी ने भक्तामर, कल्याणमन्दिर, वीर-स्तुति और महावीराष्टक स्तोत्र का सरल अनुवाद और विशेष स्थलों पर बड़े ही मार्मिक टिप्पण लिखे हैं। आचार्य अमितगति कृत 'अध्यात्म बत्तीसी' का भी जो कि संस्कृत में है, सरल हिन्दी अनुवाद करके स्वाध्याय प्रेमी पाठकों का महान् उपकार किया है। कवि श्री जी के यह अनुवाद समाज में बहुत प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं।

भक्तामर—यह स्तोत्र आचार्य मानतुंगकृत है। इसकी भाषा सरल और सुबोध संस्कृत है आचार्य ने अड़तालीस श्लोकों में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की है। कवि श्री जी ने इसका सरल अनुवाद हिन्दी में किया है और विशेष स्थलों पर टिप्पण भी लिखे हैं। ये टिप्पण बड़े ही मार्मिक एवं विचारपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए पाठकों के समक्ष दो टिप्पण रख रहा हूँ—

"सत्संग की महिमा वहुत वड़ी है। यह सत्संग का ही प्रभाव है कि कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की वूँद मोती-सी झलक पा लेती है। आचार्य कहते हैं कि—'यह साधारण-सी स्तुति भी आपके सम्बन्ध के प्रभाव से सत् पुरुषों के मन को हर लेगी, उत्कृष्ट रचनाओं में स्थान पाएगी।' आचार्य की भविष्य-वाणी सर्वथा सत्य ही प्रमाणित हुई। हजार वर्ष आए और चले गए। भक्तामर, आज भी भक्तों के हृदय का हार वना हुआ है।"

× × ×

"जव कि सूर्य की प्रातःकालीन अरुण प्रभा से ही कमल खिल जाते हैं, तो सूर्य के साक्षात् उदय होने पर क्यों न खिलेंगे? अवश्य खिलेंगे। आचार्य कहते हैं कि—'भला जव आपके नाम के उच्चारण मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं, तो स्तुति से तो अवश्य होंगे ही।"

कल्याण मन्दिर—'कल्याण मन्दिर' आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की कृति है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है, इसमें चौवालीस पद्य हैं। इसकी भाषा ओजपूर्ण संस्कृत है। कवि श्री जी ने 'कल्याण-मन्दिर स्तोत्र' का सरल हिन्दी में अनुवाद किया है और विशेप स्थलों पर मार्मिक टिप्पण भी दिए हैं। मैं कुछ टिप्पण यहाँ पर उद्धृत कर रहा हूँ—

"आचार्य ने उल्लू के वच्चे का उदाहरण वड़ा ही जोरदार दिया है। उल्लू खुद ही दिन में अन्धा रहता है और फिर उसके वच्चे की अन्धता का तो कहना ही क्या है! अस्तु, उल्लू का वच्चा यदि सूर्य के रूप का अधिक तो क्या, कुछ भी वर्णन करना चाहे, तो क्या कर सकता है? नहीं कर सकता। जन्म धारण कर जिसने कभी सूर्य को देखा ही न हो, वह सूर्य का क्या खाक वर्णन करेगा? आचार्य कहते हैं कि—'भगवन्! मैं भी मिथ्या-ज्ञान रूपी अन्धकार से अन्धा होकर आपके दर्शन से वंचित रहा हूँ। अतः आपके अनन्त ज्योतिर्मय स्वरूप का भला क्या वर्णन कर सकता हूँ? आप 'ज्ञान-सूर्य' और मैं 'अज्ञानान्ध उलूक'—दोनों का क्या मेल?"

× × ×

"संसार में देखा जाता है कि प्रायः क्रोधी मनुष्य ही अपने शत्रुओं का नाश करते हैं। जो लोग क्षमा शील होते हैं, उनसे किसी

का कुछ भी अपकार नहीं होता। इसी बात को लेकर आचार्य आश्चर्य करते हैं कि—'भगवन् ! आपने क्रोध को तो बहुत पहले ही, आध्यात्मिक विकासक्रम के अनुसार नववें गुण-स्थान में ही नष्ट कर दिया था, फिर क्रोध के अभाव में चौदहवें गुण-स्थान तक के कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे परास्त किया ?' परन्तु श्लोक के उत्तरार्द्ध में बर्फ का उदाहरण स्मृति में आते ही आश्चर्य का समाधान हो जाता है। बर्फ कितना अधिक ठंडा होता है, पर हरे-भरे वनों को किस प्रकार जलाकर नष्ट कर डालता है ? आग के जले हुए वृक्ष तो संभव है, समय पाकर फिर भी हरे हो जाएँ, परन्तु हिम-दग्ध कभी भी हरे नहीं हो पाते। अस्तु, शीतल क्षमा की शक्ति ही महान् है।

वीर-स्तुति—इसमें भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। यह सूत्रकृतांगसूत्र का एक अध्ययन है, जिसमें जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर में आर्य सुधर्मा ने भगवान् महावीर के स्वरूप का वर्णन किया है। इसकी भाषा प्राकृत है, जो बहुत ही प्राञ्जल और सरल है। कवि श्री जी ने वीर-स्तुति का सरल अनुवाद गद्य में और साथ ही पद्य में भी किया है तथा विशेष प्रसंगों पर मार्मिक टिप्पण भी दिए हैं। कुछ पद्यानुवाद के नमूने दे रहा हूँ—

"जिस प्रकार अपार सागर वह स्वयंभू-रमण है,
त्यों अखिल विज्ञान में वह वीर सन्मति श्रमण है।
कर्म-मुक्त कषाय से निर्लिप्त, धन्य पवित्रता,
देव-पति श्री शक्र-सम द्युति की अनन्त विचित्रता ॥"

× × ×

"मेघ-गर्जन है अनुत्तर शब्द के संसार में,
कौमुदी-पति चन्द्रमा है श्रेष्ठ तारक-हार में।
सब सुगन्धित वस्तुओं में बावना चन्दन प्रवर,
विश्व के मुनि-वृन्द में निष्काम सन्मति श्रेष्ठतर ॥"

× × ×

"शूरवीरों में यशस्वी वासुदेव अपार है,
अखिल पुष्पों में कमल अरविन्द गन्धागार है।
क्षत्रियों में चक्रवर्ती सार्व-भौम प्रधान है,
विश्व के ऋषि-वृन्द में श्री वर्द्धमान महान् है ॥"

"भोजनादिक दान में उत्तम अभय का दान है,
सत्य में निष्पाप करुणा-सत्य की ही शान है।
ब्रह्मचर्य महान् है तप के अखिल व्यवहार में,
ज्ञात-नन्दन है श्रमण उत्तम सकल संसार में ॥"

× × ×

"सागरों में ज्यों स्वयंभू श्रेष्ठ सागर भूमि पर,
देव-पति धरणेन्द्र नागकुमार-गण में उच्च तर।
सब रसों में प्रमुख रस है ईख का संसार में,
वीर मुनि त्यों प्रमुख हैं तप के कठिन आचार में ॥"

जिनेन्द्र स्तुति – इसमें चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। यह कविश्री जी की स्वयं की कृति है। इसके सम्बन्ध में कवि स्वयं अपना विचार इस प्रकार अभिव्यक्त करता है—

"आज का दिन, मेरे अब तक के जीवन में बड़ा ही सौभाग्य-प्रद है कि मैंने अपने अन्तर्हृदय की श्रद्धा को कविता के रूप में, वर्तमान अवसर्पिणी कालचक्र में मानव-संसार को समय-समय पर सत्य की अखण्ड ज्योति का साक्षात्कार कराने वाले चौवीस तर्थंकरों के पवित्र चरणों में अर्पण कर रहा हूँ।

आज प्रातः ज्यों ही संस्तारक (शय्या) से उठा, धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगा, भगवद्भक्ति के प्रवाह में वहने लगा कि भगवान् महावीर की स्तुति का एक पद्य वन गया। ज्यों ही दूसरी वार विचार-धारा वही कि भगवान् ऋषभदेव की स्तुति तैयार हो गई। अब तो संकल्प ने वल पाया और मैं सम्पूर्ण जिन-स्तुति लिखने बैठ गया। भगवान् की असीम कृपा से यह मंगल प्रयास आज ही पूर्ण हो गया, मैं हर्ष से नाच उठा।

कविता लिखने की सनक तो पुरानी है, परन्तु इस ढंग से मन्दाकान्ता जैसे कठिन संस्कृत छन्द में लिखने का यह पहला ही सत्साहस है। कविता की दृष्टि से सम्भव है, मैं इसमें पूरा न उतरा होऊँ, पर भगवद् स्तुति का लाभ उठाने में तो अपने विचार में सफल हो ही गया हूँ।"

जिनेन्द्र स्तुति के विषय में आपने कविश्री जी के स्वयं के विचार पढ़े। इस पर से यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि उन्होंने यह जिनेन्द्र स्तुति कितने भक्तिपूर्ण हृदय से लिखी है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से जिनेन्द्र स्तुति लघुकाय होकर भी एक सुन्दर कृति है।

वीर-स्तुति के सुन्दर पद्यानुवाद के बाद कविश्री जी ने महावीराष्टक का भी सुन्दर पद्यानुवाद किया है। महावीराष्टक संस्कृत का स्तोत्र है, जिसमें आठ श्लोकों में भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। वीर-स्तुति और महावीराष्टक का पद्यानुवाद करने के बाद कविश्री जी के मन में यह विचार आया होगा कि वे भी कोई स्तुति-विषयक कृति लिखें, फलतः उन्होंने हिन्दी में जिनेन्द्र-स्तुति संस्कृत छन्दों में लिखी है, जिसकी भाषा हिन्दी है। कुछ नमूने देखिए—

श्री ऋषभ जिन-स्तुति :

"श्रेयः शाली ऋषभ जिन जी ! कीर्ति-गाथा तुम्हारी—
गाऊँ क्या मैं ? अमर-गुरु की भी गिरा-शक्ति हारी !
आके सोई अखिल जनता आपने थी जगाई,
देके शिक्षा विरति रति की, ज्ञान-गंगा बहाई !"

श्री नेमि जिन-स्तुति :

"नेमि स्वामी ! तरुण-वय में काम का वेग मारा,
क्या ही सींची पशु-जगत् में प्रेम—पीयूष-धारा ?
दीक्षा ले के प्रखर तप से केवल-ज्योति पाई,
भोगाभ्यासी मनुज-गण को त्याग-गीता सुनाई !"

श्री पार्श्व जिन-स्तुति :

"पार्श्व स्वामी ! कमठ यति के दम्भ का दुर्ग तोड़ा,
अन्ध-श्रद्धा-विकल जनता का अधः लक्ष्य मोड़ा !
धूनि में से अहि-युगल को भस्म होते बचाया,
घूमे चारों विदिश जग में सत्य-डंका बजाया !"

श्री महावीर जिन-स्तुति :

"वीर स्वामी ! अमित—करुणागार वैराग्यधारी !
त्यागी सारी नृपति-विभुता पाप-पूजा निवारी !

भूलूँ कैसे विषय-सुख के तुच्छ से बिन्दु में मैं,
धोऊँ पापाविल हृदय त्वत्प्रेम के सिन्धु में मैं।"

महावीराष्टक स्तोत्र कवि श्री जी ने संस्कृत भाषा में भी स्तोत्र रचना की है। उन्होंने संस्कृत में 'महावीराष्टक' लिखा है, जिसमें भावना का वेग है, शब्दों का चमत्कार है और भाषा का वेगवान् प्रवाह है। इस स्तोत्र का छन्द द्रुतविलम्बित है। उदाहरण के लिए उसके दो पद्य यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

"सकल-शक्र-समाज-सुपूजितं,
सकल-संपति-संतति-संस्तुतम्।
विमल-शील-विभूषण-भूषितं,
भजत तं प्रथितं त्रिशाला-सुतम्" ॥१॥

× × ×

"सरल-सत्य-पथे सुमनोहरे,
विचलिता जनता विनियोजिता।
खल-दलं सकलं सरलीकृतं,
भजत तं प्रथितं त्रिशाला-सुतम्" ॥६॥

कवि जी की प्रवचन-कला

एक पाश्चात्य पण्डित ने बड़े स्वाभिमान के साथ एक दिन कहा था—'Let me speak, I will conquer all world.'—"मुझे बोलने दो, मैं सारी दुनिया को जीत लूँगा।"

अपने विषय में की गयी उस वक्तृत्व-कला-विशारद की भविष्य-वाणी में यदि 'संसार' शब्द के स्थान पर 'समाज' शब्द का संशोधन कर दिया जाए, तो वही भविष्य-वाणी कवि श्री जी के विषय में पूर्णतः सत्य हो उठती है। मधुर मुस्कान के साथ आपके भाषणों की ओज-स्विता जन-मन-नयन को चुम्बक की तरह बलात् अपनी ओर खींच लेती है। जो एक बार भी उनका धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत भाषण सुन लेता है, वह हमेशा के लिए उनका बन जाता है। ऐसा जादू है—उनकी ओजस्विनी वाणी में। ब्यावर जैसे साम्प्रदायिक क्षेत्रों में निर्भयता पूर्वक पहुँच कर उन्होंने अपने क्रान्तिपूर्ण विचारों, तथ्यपूर्ण दृष्टिकोणों और ओजस्वितापूर्ण भाषणों से वह धूम मचाई कि वहाँ के नवीन-प्राचीन—सभी तत्त्व यह कहते हुए गौरव की अनुभूति करते थे—'सन्त तो बहुत देखे, भाषण भी बहुत सुने, पर ऐसा महान् सन्त, ऐसा क्रान्त विचारक, ऐसा प्रखर प्रवक्ता तो ब्यावर में पहली बार ही आया है।'

कविश्री जी की भाषण-शैली सरल, परिमार्जित, मर्म-स्पर्शी और दार्शनिकता से सम्पृक्त है। 'उनके भावों में गाम्भीर्य है। उनकी शैली में ओज है। उनकी भाषा बड़ी सुहावनी है। नदी के प्रवाह की

तरह वह प्रतिपाद्य विषय की ओर अग्रसर होती हुई, लहराती हुई, धरातल से उठकर गगनतल को स्पर्श करती हुई-सी जान पड़ती है। उनके सांस्कृतिक भाषणों में भारतीय संस्कृति की आत्मा बोलती है। अतः उनके मननीय प्रवचनों में जीवन का सर्वांगीण विश्लेषण बड़ा ही विलक्षण बन पड़ता है। उनके भाषणों की मार्मिकता का अंकन 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की निम्नलिखित पंक्तियों से कीजिए—

'जैन मुनि अमरचन्द्रजी उपाध्याय के प्रवचनों को सुनने का जिन लोगों को अवसर मिला है, वे जानते हैं कि उनकी वक्तृत्व-कला, विषय-प्रतिपादन की शैली और ओजस्विनी भाषा से प्रभावित हुए बिना कोई भी नहीं रह सकता। फिर उनका धारा-प्रवाह, चिन्तन-प्रधान, माधुर्यपूर्ण भाषण जिस वातावरण की सृष्टि करता है, वह श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देता है।"

दिल्ली, आगरा, व्यावर, उदयपुर, अजमेर, पालनपुर, जोधपुर और जयपुर आपके उन गम्भीर भाषणों को कभी नहीं भूल सकता, जिन्होंने जैन एवं इतर जनता में एक सांस्कृतिक लहर दौड़ा दी थी और समाज में एक नया प्राण फूँक दिया था। सोजत में मंत्रिमंडल की प्रथम गोष्ठी में आपने अपनी विद्वत्तापूर्ण सांसदिक वक्तृता का साकार परिचय देकर श्रमण-वर्ग को आश्चर्य-चकित कर दिया था। पुराण-तत्त्व भी आपकी बहुश्रुतता, अगाध पाण्डित्य और ओज-भरी वक्तृता के कायल बन कर यही कहने को मजबूर हो गए थे कि—"जैन-समाज के बीच यह एक ही हस्ती है।"

व्यावर से विदा होते समय जैन गुरुकुल, व्यावर में 'धर्म और परम्पराएं' विषय पर जो उन्होंने महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था, वह जैन इतिहास की सर्वश्रेष्ठ वक्तृताओं में स्थान पाएगा। 'भारतीय संस्कृति' पर उनके एक भाषण को सुनकर अजमेर प्रान्त के श्री मुकुट बिहारी-लाल भार्गव, एम० ए० एल-एल० बी०, एम० एल० ए० ने गद्गद होकर कहा था—

"आज का प्रवचन सुनकर मैं मुग्ध हो गया हूँ। कैसी मनोरम शैली है, कितना गहन चिन्तन और मनन है, कितनी उदात्त भावना है और कितने ऊँचे विचार हैं! कविश्री जी के उपदेश की लड़ियाँ मेरे

हृदय में अब भी चमक रही हैं। ऐसे भाषण न केवल व्यक्ति के जीवन को ही, वरन् समाज और राष्ट्र को भी हिमालय की बुलन्दियों पर पहुँचा सकते हैं।" कवि श्री जी की प्रवचनन-शैली के कुछ उद्धरण मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"श्रमण-संस्कृति के अमर देवता भगवान् महावीर का सन्देश है—'क्रोध को क्षमा से जीतो, अभिमान को नम्रता से जीतो, माया को सरलता से जीतो और लोभ को सन्तोष से जीतो।'

जब हमारा प्रेम विद्वेष पर विजय कर सके, हमारा अनुरोध विरोध को जीत सके और साधुता—असाधुता को झुका सके, तभी हम धर्म के सच्चे अनुयायी, सच्चे मानव बन सकेंगे।

श्रमण-संस्कृति की गम्भीर वाणी हजारों वर्षो से जन-मन में गूँजती आ रही है कि—'यह अनमोल मानव-जीवन भौतिक जगत् की अँधेरी गलियों में भटकने के लिए नहीं है। भोग-विलास की गन्दी नालियों में कीड़ों की तरह कुलबुलाने के लिए नहीं है।

मानव! तेरे जीवन का लक्ष्य तू स्वयं है—तेरी मानवता है। वह मानवता, जो हिमालय की बुलन्द चोटियों से भी ऊँची तथा महान् है। क्या तू इस क्षण-भंगुर संसार की पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की भूली-भटकी, टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर ही चक्कर काटता रहेगा? नहीं! तू तो उस मंजिल का यात्री है, जहाँ पहुँचने के बाद आगे और चलना शेष ही नहीं रह जाता है।

"इस जीवन का लक्ष्य नहीं है,
श्रान्ति-भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक,
जिसके आगे राह नहीं॥"

आज सब ओर अपनी-अपनी संस्कृति और सभ्यता की सर्वश्रेष्ठता के जयघोष किए जा रहे हैं। मानव-संसार संस्कृतियों की मधुर कल्पनाओं में एक प्रकार से पागल हो उठा है। विभिन्न संस्कृति एवं सभ्यताओं में परस्पर रस्साकशी हो रही है। परन्तु कौन संस्कृति श्रेष्ठ है, इसके लिए एक प्रश्न ही काफी है, यदि इसका उत्तर ईमानदारी से दे दिया जाए तो। वह प्रश्न है कि—"क्या आपकी

संस्कृति में 'सर्वे-भवन्तु सुखिनः' की मूल भावना विकसित हो रही है? व्यक्ति स्वपोषण-वृत्ति से विश्व-पोषण की मनोभूमिका पर उतर रहा है, निराशा के अन्धकार में शुभाशा की किरणें जगमगाती आ रही हैं, प्राणिमात्र के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के निम्न धरातल को ऊँचा उठाने के लिए कुछ-न-कुछ सत्प्रयत्न होता रहा है ?" यदि आपके पास इस प्रश्न का उत्तर सच्चे हृदय से 'हाँ' में है, तो आपकी संस्कृति गौरव प्राप्त करने योग्य है। जिसके आदर्श विराट एवं महान् हों, जो जीवन के हर क्षेत्र में व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण का समर्थन करती हो, जिसमें मानवता का ऊर्ध्वमुखी विकास अपनी चरम-सीमा को सजीवता के साथ स्पर्श कर सकता हो, वही विश्वजनीन संस्कृति, विश्व-संस्कृति के स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान हो सकती है।

श्रमण-संस्कृति का यह अमर आदर्श है कि—'जो सुख दूसरों को देने में है, वह लेने में नहीं'।"

× × +

"मैं खास तौर से नवयुवकों से कहूँगा कि भारत का भविष्य आप लोगों से ही चमकने वाला है। अब तक जो हुआ, सो हुआ। पर जो आगामी है, उसके विधाता आप हैं। देश को बनाना और बिगाड़ना आपके ऊपर निर्भर है। आपके अन्दर जोश है, वीरता की भावना है, लड़ने की शक्ति है, तो हम आपकी कद्र करेंगे। मगर जोश के साथ होश भी आना चाहिए। इसके बिना काम नहीं चलेगा। मुझे कांग्रेस के एक अन्तरंग सज्जन ने बतलाया था कि एक बार गांधी जी ने कहा था—'तुम्हारे भीतर जोश है। तुम देश का निर्माण करोगे। पर इस बूढ़े के होश की भी तो जरूरत पड़ेगी न ?' जब जोश और होश—दोनों का सामंजस्य होता है, तभी जीवन का सही तौर पर निर्माण होता है। होश हो, पर जोश न हो, काम करने की क्षमता न हो, जीवन लड़खड़ाता हो, हँसता हुआ न हो, तो देश का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जोश तो हो, मगर होश न हो, काम करने की शक्ति हो, मगर उचित समझदारी न हो, तो वह कोरा जोश आपको और आपके देश को भी ले डूबेगा। जोश आगे बढ़ने वाला कदम है, तो होश रास्ता दिखाने वाला नेत्र है।"

"दुर्भाग्य से सब धर्मों में जहर के कीटाणु लग गए हैं, और उन्होंने इतना प्रवल रूप धारण कर लिया है कि जो लोग दूसरों को भी रोटी मुहय्या करते हैं, जो सर्दी और गर्मी सहन करके अपने जीवन को घुला देते हैं, जो सब से ज्यादा श्रम करके उत्पादन करते हैं, उनकी प्रतिष्ठा को खत्म कर दिया ! जब उनकी प्रतिष्ठा खत्म हो गयी, तो उन्होंने समझ लिया कि हम हीन है, नीच है, बुरे है और पापी हैं— और हमने पाप का काम ले लिया है ! दूसरा वर्ग जो विचारकों का था, वह धर्म और संस्कृति के नाम पर आगे वढ़ गया। कोई पैसे के वल पर आगे वढ़ गया, और कोई बुद्धि के वल पर। उसने अपने-अपने दृष्टिकोण बना लिए और वह समाज में प्रभुत्व भोगने लगा। उसने समझ लिया कि उत्पादक वर्ग नीचा है और वह पाप कर रहा है। इस रूप में मजदूर और किसान गुनहगार हैं और महापापी हैं।

नतीजा यह हुआ कि किसान और श्रमिक लोग आज अपनी ही निगाहों में गिर गए हैं। उन्हें न तो अपने प्रति श्रद्धा है और न अपने धन्धे के प्रति। उन्होंने प्रतिष्ठा के भाव खो दिए हैं और वह महत्त्वपूर्ण पद जो जनता की आँखों में ऊँचा होना चाहिए था, नीचा हो गया है और उस पद के विषय में किसी को रस नहीं रह गया है।"

× × ×

"सन्तोष को कायरों का लक्षण समझना तो अज्ञान है। अपनी लालसाओं पर नियंत्रण स्थापित करना सन्तोप कहलाता है और लालसाओं पर नियंत्रण करने के लिए अन्तःकरण को जीतना पड़ता है। अन्तःकरण को जीतना कायरों का काम नहीं है, संयम की उत्कट साधना है। इस विषय में कहा गया है कि—

'एक मनुष्य विकट संग्राम करके लाखों योद्धाओं पर विजय प्राप्त करता है, तो निस्सन्देह वह वीर है। किन्तु जो अपनी अन्तरात्मा को जीतने में सफल हो जाता है, वह उससे भी वढ़कर वीर है। अन्तःकरण को जीतने वाले की विजय उत्तम और प्रशस्त विजय है।'

रावण वड़ा विजेता था। संसार के वीर पुरुप उसकी धाक मानते थे और कहते हैं, वह अपने समय का असाधारण योद्धा था। किन्तु वह भी अपने अन्तःकरण को अपने कावू में न कर सका, अपनी लालसाओं पर नियंत्रण कायम नहीं कर सका। और उसकी इस

दुर्वलता का परिणाम यह हुआ कि उसे इसी चक्कर में फँस कर मर जाना पड़ा। उसने परिवार को और साम्राज्य को भी धूल में मिला दिया और इस प्रकार अपने असन्तोष के कारण अपना सर्वनाश कर लिया।"

× × ×

"कहाँ है, आज भारतीय तरुणों के चहरे पर वह चमक ? कहाँ गयी वह भाल पर उद्‌भासित होने वाली आभा ? कहाँ गायव हो गयी नेत्रों की वह ओजस्विता ? सभी कुछ तो वासना की आग में जल कर राख वन गया। आज नैसर्गिक सौन्दर्य के स्थान पर पाउडर और लेवेंडर आदि कृत्रिम उपकरणों के द्वारा सुन्दरता पैदा करने का प्रयत्न किया जाता है, पर मुर्दे का शृङ्गार क्या उसकी शोभा बढ़ाने में समर्थ हो सकता है ?

ऊपर से पैदा की हुई सुन्दरता जीवन की असली सुन्दरता नहीं है। ऐसी कृत्रिम सुन्दरता का प्रदर्शन करके आप दूसरों को भ्रम में नहीं डाल सकते। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि आप स्वयं भ्रम में पड़ जाएँ। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि उससे कुछ वनने वाला नहीं है।

एक वृक्ष सूख रहा है, उसके भीतर जीवन-रस नहीं रहा है—तव कोई भी रंगरेज या चित्रकार उसमें वसन्त लाना चाहेगा, तो रंग पोत कर वसन्त नहीं ला सकेगा। उसके निष्प्राण सूखे पत्तों पर रंग पोत देने से वसन्त नहीं आने का। वसन्त तो तव आएगा, जव जीवन में हरियाली होगी। उस समय एक भी पत्ते पर रंग लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। वह हरा-भरा वृक्ष अपने-आप ही अपनी सजीवता के लक्षण प्रकट कर देगा।

इसी प्रकार रंग पोत लेने से जीवन के वसन्त का आगमन नहीं हो सकता। वसन्त तो जीवन-सत्त्व के मूलाधार से ही प्रस्फुटित होता है। और वह जीवन-सत्त्व 'ब्रह्मचर्य' है।"

× × ×

"विचार कीजिए, किसी के पास सम्पत्ति है। वह सम्पत्ति आखिर समाज में से ही तो ली गयी है। वह आकाश से तो नहीं वरसी

है, और न पूर्व-जन्म की गठरी ही बाँधकर साथ में लाई गयी है। मनुष्य तो केवल यह शरीर ही लेकर आया है। बाकी सब चीजें तो उसने यहीं प्राप्त की हैं। उसने प्राप्त अवश्य कर ली हैं, किन्तु उनका सही उपयोग नहीं करता है, बल्कि उनको दबाए बैठा है। न तो अपने लिए, और न दूसरों के लिए ही काम में लाता है, तो यह भी सामाजिक चोरी है।

कहने को तो यह चोरी नहीं है और समाज भी इसे चोरी समझने को तैयार नहीं है, परन्तु जैन-धर्म की दृष्टि से यह भी एक प्रकार की चोरी है। समाज से धन इकट्ठा किया और उसे दबाए रखा, सारी जिन्दगी समाप्त हो गई—न अपने लिए, और न दूसरों के लिए ही उसका उपयोग किया, तो यह भी एक प्रकार की चोरी ही है।

जो व्यक्ति सम्पत्ति पा करके भी उसे प्राणों से लगाए रहता है और आर्त-रौद्र ध्यान में मन को लगाता रहता है, अपनी आध्यात्मिक चेतना को बराबर नष्ट करता रहता है और अपनी जिन्दगी में ठीक-ढंग की तैयारी भी नहीं करता है। इन सब सामाजिक, पारिवारिक प्रयोजनों के लिए धन का उपयोग न करके उसे दबाए बैठा रहता है, तो मैं नहीं समझ पाता कि वह व्यक्ति चोरी नहीं करता, तो और क्या करता है?"

× × ×

"आज परिवार में, समाज में और संसार में गलत मान्यताएँ और बातें होती हैं, तो लोग चर्चा करते हैं कि गलत परम्पराएँ चल रही हैं · लोग खिन्न होते हैं और वेदना का अनुभव करते हैं। जब उनसे कहा जाता है कि आप उनका विरोध क्यों नहीं करते, तो झटपट 'किन्तु' और 'परन्तु' लगने लगता है। विवाह-शादियों में में अत्यधिक खर्च होता है और इससे हर परिवार को वेदना है, किन्तु जब चर्चा चलती है, तो कहा जाता है कि—'बात तो ठीक है, किन्तु क्या करें?'

राष्ट्रीय चेतना में भी गड़बड़ है। राष्ट्र के नेताओं और कर्णधारों के साथ विचार करते हैं, तो वे भी यही कहते हैं—'बात तो ठीक है आपकी, परन्तु क्या करें?'

वस, यही 'पर' सारी गड़बड़ियों की जड़ है। यह मानसिक असत्य और दुर्बलता का परिणाम है। यही 'पर' जब पक्षी के जीवन में लगते हैं, तो वह ऊपर आकाश में उड़ने लगता है, किन्तु जब यही 'पर' मनुष्य को लगते हैं, तो वह नीचे गिरने लगता है। यही 'पर' हमारे जीवन को ऊँचा नहीं उठने देता।"

× × ×

"पश्चिम अपनी जीवन-यात्रा अणु के बल पर चला रहा है, और पूर्व सह अस्तित्व की शक्ति से। पश्चिम देह पर शासन करता है, और पूर्व देही पर। पश्चिम तलवार तथा तीर में विश्वास रखता है, पूर्व मानव के अन्तर मन में, मानव की साहजिक स्नेह शीलता में।

आज की राजनीति में विरोध है, विग्रह है, कलह है, असन्तोष और अशान्ति है। नीति, भले ही राजा की हो, या प्रजा की, वह अपने आप में पवित्र है, शुद्ध है और निर्मल है। क्योंकि उस का कार्य जग कल्याण है, जग विनाश नहीं। नीति का अर्थ है–जीवन की कसौटी, जीवन की प्रामाणिकता, जीवन की सत्यता। विग्रह और कलह को वहाँ अवकाश नहीं। क्योंकि वहां स्वार्थ और वासना का दमन होता है और धर्म क्या है? सब के प्रति मंगल भावना। सब के सुख में सुख-बुद्धि और सब के दुःख में दुःख-बुद्धि। समत्व-योग की इस पवित्र भावना को धर्म नाम से कहा गया है। यों मेरे विचार में धर्म और नीति सिक्के के दो बाजू हैं। दोनों की जीवन-विकास में आवश्यकता भी है।"

सम्मति ज्ञानपीठ

मानव-जीवन को प्रगतिशील एवं आदर्श वनाना जैन-धर्म का मुख्य ध्येय है। इस परम रमणीय ध्येय के प्रसार का साधन सत्साहित्य ही हो सकता है। साहित्य के विना हम अपनी संस्कृति, धर्म और समाज की प्रगतिशीलता का परिचय मानव-संसार को कैसे दे सकते हैं?

इस बुद्धिवादी प्रगतिशील युग में सफलता प्राप्त करने का एक ही आधार है कि प्राचीन जैन-साहित्य का संशोधन तथा अन्वेषण और नवीन साहित्य का सर्जन किया जाए। प्राचीन साहित्य का प्रकाशन नव्य भाषा, नूतन शैली और अभिनव संपादन पद्धति से होना चाहिए। जैन-धर्म के विश्व-जनीन तत्त्वों को लेकर उन पर अद्यतन शैली से विवेचन एवं भाष्य किया जाए। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना राष्ट्र-भाषा हिन्दी में होनी चाहिए।

यही है, वह मार्ग, जिस पर चलकर हम जैन-धर्म के विपुल एवं विशाल साहित्य द्वारा जन-कल्याण में सक्रिय योग दे सकते हैं। परन्तु इस महान् कार्य की पूर्ति के लिए एक विशाल प्रकाशन संस्था की आवश्यकता थी, जो किसी सुयोग्य विद्वान् द्वारा समय-समय पर दिशा-सूचन प्राप्त करती रहे।

ज्ञानपीठ का आविर्भाव :

परम सौभाग्य की वात है कि आगरा संघ के पुण्योदय से सन् १९४५ में कविरत्न उपाध्याय श्रद्धेय श्री अमरचन्द्र जी महाराज का

आगरा पधारना हुआ और आगरा संघ की आग्रह-भरी वर्षावास की प्रार्थना को स्वीकार करके वर्षावास में अपने ओजस्वी प्रवचनों द्वारा जैन-जैनेतर जनता में धार्मिक और सामाजिक जागृति उत्पन्न की। तभी कुछ सज्जनों ने उपाध्याय श्री से कुछ रचनात्मक और ठोस कार्य करने की पवित्र एवं उत्साहपूर्ण प्रेरणा ली। जिसके फलस्वरूप 'सन्मति ज्ञानपीठ' का आगरा में आविर्भाव हुआ।

यह कौन नहीं जानता कि उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज एक सफल प्रवचनकार ही नहीं, वल्कि एक प्रतिभावान् समर्थ साहित्यकार भी हैं। आप जैन-समाज के एक युगान्तरकारी कवि, मौलिक एवं विचार-प्रधान निवन्धकार, सफल आलोचक, सुयोग्य अनुवादक एवं सम्पादक और जैन-संस्कृति के अभिनव गायक हैं। जैन-दर्शन और आगम-साहित्य के प्रमुख विद्वानों में आपकी परिगणना है। जैन-साहित्य में आलोचनात्मक शैली से धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों को जनता के समक्ष रखने का उल्लेखनीय श्रेय आपको प्राप्त है। आपकी विद्वत्ता एवं उदार दृष्टि से जैनेतर विद्वान् भी समय-समय पर वहुत प्रभावित होते रहे हैं।

इस प्रकार उपाध्याय श्री जी का विचार-क्षेत्र और कार्य-क्षेत्र सदा से ही व्यापक और विशाल रहा है। इसी व्यापक दृष्टिकोण को लेकर आप साहित्य-सेवा करते रहे हैं। उपाध्याय श्री जी वहुत दिनों से प्रामाणिक एवं मौलिक साहित्य के प्रचार तथा प्रसार के लिए किसी प्रामाणिक संस्था की नितान्त आवश्यकता अनुभव करते थे। फलतः आपके उपदेश से एवं आपकी प्रेरणा से 'सन्मति ज्ञानपीठ' के नाम से प्रस्तुत संस्था इसी वर्षावास में संस्थापित हुई। संस्था के उद्घाटन के समय 'साहित्य की महत्ता पर' उपाध्याय श्री जी ने संघ के समक्ष जो विद्वत्तापूर्ण प्रवचन दिया था, उसका कुछ संक्षिप्त सार इस प्रकार से है, जो नीचे दिया जा रहा है—

"मानव-जाति की आध्यात्मिक और भौतिक, सभी प्रकार की समुन्नति का एक मात्र सफल साधन—साहित्य ही है। किसी भी देश, जाति, धर्म और संस्कृति का उत्थान उसके श्रेष्ठ साहित्य पर ही अवलम्वित है। विश्व के साहित्य में और विशेषतः भारतीय साहित्य

में जैन-साहित्य का अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान् जैन आचार्यों ने धर्म-शास्त्र, राज्य-शास्त्र, समाज-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द और संगीत आदि विषयों पर भी विपुल ग्रन्थ-राशि का निर्माण किया है, जो मानव-जाति के प्रति एक अनुपम भेंट कही जा सकती है। जैन-साहित्य इने-गिने बुद्धिजीवी लोगों के मनोरंजन मात्र के लिए केवल शब्दजाल लेकर नहीं आया। उसमें मानव-संस्कृति का प्रतिबिम्ब पूर्ण-रूपेण उतर आया है। मानव-जाति के कल्याण के लिए वह बड़े ही उदार और भव्य विचार प्रस्तुत करता है। विश्व-कल्याण की भावना से जैन-साहित्य का अक्षर-अक्षर सराबोर है।

परन्तु खेद है, कि आज का जैन-समाज अपने इस साहित्य-गौरव के प्रति बहुत ही उपेक्षापूर्ण व्यवहार कर रहा है। प्राचीन साहित्य का सुन्दर प्रकाशन और नवीन साहित्य का मौलिक उद्भावन—दोनों ही ओर से लापरवाही बरती जा रही है। यही कारण है कि जैन-समाज के लिए वह अपना पुराना गौरव आज केवल स्वप्न हो गया है।

अस्तु, जैन-समाज के गौरव को लक्ष्य में रखते हुए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है, जिसके द्वारा प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य, भाव, भाषा, शैली और मुद्रण-कला की दृष्टि से सर्वाङ्ग सुन्दर रूप में प्रचारित हो सके। आप सब ने जिस उत्साह और लगन से 'सन्मति ज्ञानपीठ' स्थापित किया है। अतः यह पूर्ण विश्वास है कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य को आप कर सकेंगे। यह संस्था किसी व्यक्ति-विशेष के नाम पर न होकर भगवान् महावीर के नाम पर है। अतएव इस संस्था को बिना किसी साम्प्रदायिक भेद-भाव के समस्त जैन-समाज की सेवा करने का संकल्प रखना चाहिए। आप सब की यह हार्दिक अभिलाषा होनी चाहिए कि समाज के प्रत्येक सुयोग्य लेखक की कृति के लिए 'ज्ञान पीठ' की ओर से उचित आदर एवं सम्मान प्राप्त हो। मैं इस संस्था को किसी व्यक्ति-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष की पिछलग्गू बनाना कतई पसन्द नहीं करूँगा।"

'सन्मति ज्ञानपीठ' के मूल प्रेरक कविरत्न उपाध्याय श्री अमर-चन्द्र जी महाराज हैं। इस संस्था के द्वारा उन्होंने समाज की अविस्मर-

णीय साहित्य-सेवा की है। उपाध्याय श्री जी की यह जीती-जागती कृति है। इस कृति के संगुफन में उन्होंने जो अथक बौद्धिक श्रम किया है, समाज उसे कभी भुला नहीं सकता। 'सन्मति ज्ञानपीठ' की क्षेत्र-सीमा धीरे-धीरे बहुत फैल गई है, और फैलती जा रही है। पंजाब, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, बृहत् राजस्थान, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, हैदराबाद, मद्रास, मैसूर, बम्बई, बिहार और बंगाल—सर्वत्र इसके पाठक आपको मिलेंगे और वहाँ से निरन्तर इसके प्रकाशनों की माँग आती रहती है। इस प्रकार ज्ञानपीठ का परिवार विशाल, व्यापक और बहुत विस्तृत है। किसी भी संस्था के लिए यह गौरव, सन्तोष और प्रसन्नता की बात है कि उसके प्रकाशनों की माँग सदा बढ़ती रहे। सन्मति ज्ञानपीठ इस विषय में अपने आपको एक सफल एवं सौभाग्यशाली अनुभव करता है।

सेठ रतनलाल जी मित्तल, आज नहीं रहे। परन्तु ज्ञानपीठ उनकी बहुमूल्य सेवाओं को नहीं भूल सकता। सन्मति ज्ञानपीठ के जन्म, विकास और प्रगति में उनका सक्रिय योगदान—ज्ञानपीठ के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। सेठ जी के अभाव में इस संस्था को काफी क्षति पहुँची है। ज्ञानपीठ का परिवार सेठ जी के त्याग और उदार भाव को कभी भूल नहीं सकता। सेठ जी की स्मृति सदा ताजा रहेगी।

ज्ञानपीठ के उद्घाटन अवसर पर सेठ जी ने जो मार्मिक एवं हृदय-स्पर्शी उद्गार प्रकट किए थे, उन्हें पाठकों की जानकारी के लिए मैं यहाँ अविकल रूप में उद्धृत कर रहा हूँ। इससे पाठक यह भी जान सकेंगे कि उपाध्याय श्री जी के प्रति सेठ जी के मन में कितनी अगाध श्रद्धा एवं कितना अटूट विश्वास था। और साहित्य सेवा के लिए कितनी उत्कट भावना थी।

"मानव-जाति की आध्यत्मिक और भौतिक सभी प्रकार की समुन्नति का एकमात्र सफल साधन—साहित्य है। साहित्य, अपने-आप में वह विलक्षण चमत्कार रखता है कि जिससे बड़ी-से-बड़ी क्रान्तियाँ जन्म लेती हैं और शताब्दियों से पतित, हीन दलित एवं असभ्य मानी जाने वाली जातियाँ एक दिन अभ्युदय के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर विश्व में असाधारण आदर का स्थान प्राप्त कर लेती हैं। किसी भी देश, जाति, धर्म और संस्कृति का उत्थान— उसके श्रेष्ठ साहित्य पर ही अवलम्बित है, इसमें किसी के दो मत हो नहीं सकते।"

विश्व के साहित्य में, विशेषतः भारतवर्ष के साहित्य में जैन-साहित्य का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्यों ने न्याय, व्याकरण, धर्म-शास्त्र आदि प्रत्येक विषय पर वह विपुल ग्रंथ-राशि निर्माण की है, जो मानव-जाति के प्रति एक अनुपम एवं हितकर भेंट कही जा सकती है। वस्तुतः जैन-विद्वानों की बुद्धि की चमत्कृति, पाण्डित्य की गरिमा, विचार-शीलता की पराकाष्ठा, कल्पना-शक्ति की अतुलता, हृदय की उदारता और प्राणिमात्र के हित की भावना कोटि-कोटि वार अभिवन्दनीय है।

जैन-साहित्य, इने-गिने बुद्धिजीवी लोगों के मनोरंजन के लिए केवल शब्द-जाल लेकर नहीं आया है। उसमें मानव-संस्कृति का प्रतिविम्व पूर्ण-रूपेण उतर आया है। वह मानव-जाति के समक्ष बड़े ही उदात्त तथा भव्य विचार उपस्थित करता है। यह जैन-साहित्य को ही गर्व है कि उसने सदा से मानव-जाति को स्नेह, प्रेम, सौहार्द्र एवं मैत्री-भावना का अमर सन्देश दिया है। साम्प्रदायिक दुराग्रह तथा जातीय उच्च-नीचता के संघर्ष का वह कट्टर विरोधी रहा है। विश्व-कल्याण की भावना से जैन-साहित्य का अक्षर-अक्षर आप्लावित है। साहित्य के शाब्दिक अर्थ में वह—"**हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्**" है। साहित्य का मूल अर्थ है—'हित करने वाला।'

परन्तु खेद है, कि आज का जैन-समाज अपने इस सर्वश्रेष्ठ साहित्य के प्रति वहुत ही भयंकर उपेक्षापूर्ण व्यवहार कर रहा है। प्राचीन साहित्य का सुन्दर प्रकाशन और नवीन साहित्य का सुन्दर निर्माण—दोनों ही ओर से लापरवाही बरती जा रही है। यही कारण है कि जैन-समाज के लिए वह अपना पुराना गौरव, आज केवल स्वप्न जैसा हो गया है। आज हम कहाँ हैं? संसार में हमारा कौन-सा स्थान है? अभ्युदय के सर्वोच्च शिखरों पर विचरण करने वाला जैन-समाज आज सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया है, साम्प्रदायिक दल-वन्दियों में पड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो गया है। न आज उसकी कोई संस्कृति है, और न कोई सभ्यता। पूर्वकाल के वे महान् आदर्श आज जिस प्रकार अधस्तन हो गए हैं, उन्हें देखकर हृदय को वड़ी भीषण ठेस पहुँचती है।

आज जैन-समाज के तीन महान् सम्प्रदाय हैं—स्थानकवासी, श्वेताम्वर और दिगम्बर। इनमें श्वेताम्वर और दिगम्बर तो अपने-अपने साहित्य की ओर थोड़ा-बहुत लक्ष्य दे भी रहे हैं। दोनों ही सम्प्रदायों के चार-पाँच विद्वान् भी ऐसे हैं, जो बराबर प्राचीन साहित्य का अन्वेषण तथा नवीन साहित्य का निर्माण कर रहे हैं। उनकी सम्प्रदाय भी उनको यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सहयोग प्रदान कर रही है। परन्तु स्थानकवासी समाज की उदासीनता तो इस दिशा में बड़ी ही घातक दशा पर पहुँची हुई है।

स्थानकवासी समाज का मूल आचार आगम-साहित्य है। आज तक हम आगमों का कोई प्रामाणिक संस्करण नहीं निकाल पाए हैं। एक-दो स्थानों से इस ओर जो प्रयत्न हुआ भी है, उसके पीछे न तो गम्भीर चिन्तन है, और न अद्यतन दृष्टिकोण ही। अतः वह आज के प्रगतिशील युग में आदरणीय स्थान नहीं पा सका। अब रहा नवीन साहित्य, उसके सम्बन्ध में जो गड़बड़ है, वह सब के सामने है। टूटी-फूटी भाषा में लूली-लंगड़ी दो-चार तुकबन्दियाँ बना लेना ही यहाँ कविता है। इधर-उधर के दो-चार जीवन-चरित्र खिचड़ी भाषा में लिख देना ही यहाँ गद्य-साहित्य है। उस साहित्य के न तो भाव ही आज के युग को छूते हैं, और न भाषा ही युगानुकूल है।

यदि यही दशा रही और कुछ सुधार न किया गया, तो मुझे कल्पना आती है कि हमारी आने वाली पीढ़ी के युवक आजकल के साहित्य को देखकर, साश्चर्य एवं सलज्ज भाव से यह कहेंगे कि—"बीसवीं शताब्दी में हमारे पूर्वज बौद्धिक दृष्टि से बिल्कुल ही पिछड़े हुए थे, जो यह कूड़ा-कर्कट लिखकर हमारे लिए डाल गए हैं।" यह बात जरा कड़वी लिखी गई है, परन्तु सत्य की रक्षा के लिए कड़वापन सहना ही पड़ेगा।

कविरत्न उपाध्याय श्री पण्डित अमरचन्द्र जी महाराज स्थानकवासी समाज के एक उज्ज्वल रत्न हैं। आपकी विद्वत्तापूर्ण प्रतिभा अपनी समाज में ही नहीं, पड़ौसी समाजों में भी प्रशंसा प्राप्त कर चुकी है। आपके हृदय में बहुत दिनों से उपर्युक्त साहित्य सम्बन्धित वेदना घर किए हुए थी। आप चाहते थे कि स्थानकवासी समाज के गौरव

को लक्ष्य में रखकर एक ऐसी संस्था की स्थापना की जाए, जिसके द्वारा प्राचीन और अर्वाचीन—दोनों ही प्रकार का साहित्य—भाव, भाषा तथा मुद्रण-कला की दृष्टि से सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशित किया जाए। सौभाग्य से उपाध्याय श्री जी का चातुर्मास अब की वार सन् १६४५ में हमारे यहाँ आगरा क्षेत्र में हुआ। चातुर्मास में कितने ही सज्जनों की ओर से व्यक्तिगत पुस्तकें छपाने के लिए उपाध्याय श्री जी से प्रार्थनाएं की गईं। इस पर महाराज श्री जी ने अपने विचार जैन-संघ के समक्ष रखे, जिसके फलस्वरूप यह 'सन्मति ज्ञानपीठ' के नाम से सुन्दर प्रकाशन संस्था स्थापित की गई है।

महाराज श्री की प्रेरणा का यह मूर्त रूप, आज सब सज्जनों के समक्ष है। अभी यह संस्था अपनी शैशव अवस्था में ही है, अथवा यों कहना चाहिए कि जन्म ही हुआ है। परन्तु अभी से इसे उत्साही सज्जनों का जो सहकार एवं सहयोग तन-मन-धन से प्राप्त हो रहा है, उसे देखकर दृढ़ धारणा होती है कि निकट भविष्य में ही यह संस्था—एक आदर्श प्रकाशन संस्था के रूप में परिणत हो जाएगी। इसे हम केवल प्रकाशन संस्था के रूप में ही नहीं, वल्कि ज्ञान-प्रचार के विविध क्षेत्रों में भी प्रगतिशील देखना चाहते हैं। यह संस्था विना किसी साम्प्रदायिक भेद-भाव के समस्त जैन-समाज की सेवा करने का संकल्प रखती है। अतः आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि जैन-जगत् के धनीमानी तथा विचारक विद्वान् इस आदर्श आयोजन में यथाशक्य सक्रिय सहयोग देकर संस्था को सब प्रकार से सवल, सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करेंगे।

कवि जी की साहित्य-रचना

पद्य : गीत

१. अमर पद्य मुक्तावली
२. अमर पुष्पाञ्जलि
३. अमर कुसुमाञ्जलि
४. अमर गीताञ्जलि
५. संगीतिका

पद्य : कविता

६. कविता-कुञ्ज
७. अमर-माधुरी
८ श्रद्धाञ्जलि

पद्य : काव्य

९. धर्मवीर सुदर्शन
१०. सत्य हरिश्चन्द्र
११. जगद्गुरु महावीर
१२. जिनेन्द्र स्तुति

गद्य : निबन्ध

१. अहिंसा सिद्धान्त
२. महावीर

३. आदर्श कन्या
४. जैनत्त्व की झाँकी
५ उत्सर्ग और अपवाद-मार्ग

गद्य : कहानी

६. जीवन के चलचित्र

गद्य : जीवन

७ आदर्श जीवन
८. गणी उदयचन्द्र जी का जीवन
९. महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

गद्य : शिक्षा

१०. जैन बाल-शिक्षा—[भाग १,२,३,४]
११. तीन बात

गद्य : स्तोत्र

१२. भक्तामर
१३. कल्याण मन्दिर
१४. महावीर स्तुति
१५. महावीराष्टक

गद्य : मन्त्र

१६. महामन्त्र नवकार

गद्य : व्याख्या-भाष्य

१७ सामायिक-सूत्र
१८. श्रमण-सूत्र

गद्य : चिन्तन और मनन

१९ आवश्यक दिग्दर्शन
२०. अमर-वाणी
२१. विचारों के नए मोड़

गद्य : अनुवाद

२२. महावीर वाणी, आदि

गद्य : सम्पादन

२३. निशीथ भाष्य—[भाग १,२,३,४,]
२४. परमात्म मार्ग-प्रकाश
२५. दशवैकालिक
२६. सृष्टि कर्तृत्व मीमांसा

गद्य : प्रवचन

२७. उपासक आनन्द
२८. अहिंसा दर्शन
२९. अहिंसा तत्त्व-दर्शन
३०. सत्य-दर्शन
३१. अस्तेय-दर्शन
३२. ब्रह्मचर्य-दर्शन
३३. अपरिग्रह-दर्शन
३४. जीवन-दर्शन
३५. जीवन की पाँखें
३६. अमर-भारती
३७. प्रकाश की ओर
३८ साधना के मूल मन्त्र
३९. पञ्च-शील (अप्रकाशित)
४०. पर्व-प्रवचन ,,
४१. अलवर के प्रवचन ,,

प्रवहमान

कविश्री जी महाराज का जीवन मन्द-मन्द प्रवाहित होने वाले मंदाकिनी के उस पावन-पवित्र प्रवाह की तरह है, जो अपने उभय पार्श्ववर्ती तटों का आसिञ्चन करता हुआ नित्य-निरन्तर प्रवहमान रहता है। उसके तट पर आने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने तन के ताप को, और अपने मन के पाप को शान्त एवं क्षय करता है। जो भी उसके तट पर प्यास लेकर पहुँचता है, उसे वहाँ अवश्य सुख, सन्तोष और शान्ति मिलती है। मन्दाकिनी का वह अजस्र-स्रोत सदा प्रवाह-शील ही रहता है। निरन्तर गति और उन्मुक्त भाव से दान—ये दोनों उसके सहज-स्वाभाविक कर्म हैं।

उपाध्याय श्री कवि अमरचन्द्र जी महाराज का जीवन भी पावन-पवित्र उस नित्य-प्रवाही मन्दाकिनी के प्रवाह के समान ही है। कुछ अन्तर है, तो केवल इतना ही कि केवल गंगा जल प्रदान करती है, और कविश्री जी ज्ञान। यह विमल ज्ञान-गंगा समाज के तापित और शापित जन-जीवन को सुख, सन्तोष और शान्ति प्रदान करती है। युग-युग से पीड़ित मानव-समाज को सुन्दर वरदान प्रदान करने वाली यह पतित-पावनी गंगा, आज भी भारत के सुदूर भू-भागों में स्थित जन-जीवन को नयी जागरणा, नयी प्रेरणा और स्फूर्ति का भव्य दान देने में संलग्न है, कोई भी जिज्ञासु उन पावन चरणों में बैठकर आकण्ठ ज्ञानामृत का पान कर सकता है। आगम, दर्शन, धर्म, संस्कृति, इतिहास—कुछ भी आप लेना चाहें. वह सब आपको वहाँ मिलेगा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अन्य प्रान्तीय भाषाओं का परिज्ञान आप प्राप्त कर सकते परन्तु कविश्री जी का कवित्व वस्तुतः अध्यात्म-ज्ञान में ही प्रस्फुटित होता है। शंका का समाधान, प्रश्न का उत्तर और जिज्ञासा का प्रतिवचन आपको अवश्य ही अधिगत होगा। उस अमृत-योगी के पास पहुँचकर आप अपने विकास के लिए वहाँ बहुत-कुछ पा सकते हैं। जो आपको अन्यत्र नहीं मिलता, वह आपको वहाँ मिलेगा।

'व्यक्तित्व और कृतित्व' में उनके इसी उदात्त और विशाल रूप को संक्षेप में रखने का प्रयत्न किया गया है। यह उनके 'व्यक्तित्व

और कृतित्व' का परिचय मात्र ही है। क्योंकि उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अभी गंगा के प्रवाह की तरह प्रवहमान है। उससे प्रेरणा, उत्साह और सन्देश अभी मिल रहा है। उनके कृतित्व का बहु-भाग तो अभी तक अप्रकाशित ही पड़ा है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक उनके सम्पूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व न करके परिचय मात्र ही है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की विभिन्न विधाओं के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण अवश्य ही मिल जाता है।

कवि श्री जी की विहार-यात्रा के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक में कुछ भी नहीं लिखा गया है। इसका कारण यह है कि उनकी विहार-यात्रा के विषय में मैं एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख रहा हूँ। फिर भी यहाँ पर इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कवि श्री जी ने भारत के विभिन्न प्रान्तों की विहार-यात्रा की है। जैसे—संयुक्त-प्रान्त (उ० प्र०) पंजाब, मारवाड़, मेवाड़, अजमेर-मेरवाड़ा में वे लगभग दश वर्षों तक परिभ्रमण करते रहे हैं।

आज-कल कवि श्री जी महाराज विहार प्रान्त, बंगाल और कलिंग (उड़ीसा) की विहार-यात्रा कर रहे हैं। उड़ीसा प्रान्त में जैन मुनि की सम्भवतः यह सबसे पहली विहार-यात्रा है। उड़ीसा में वे बालेसर, कटक, भुवनेश्वर, उदयगिरि और जगन्नाथ पुरी तक जाने का विचार कर रहे हैं। आज जब कि ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, वे कटक में विराजित हैं। वैसे उनके जीवन की सबसे लम्बी और सबसे महत्त्वपूर्ण विहार-यात्रा कानपुर से काशी, और काशी से कलकत्ता की कही जा सकती है। सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, और मालव भूमि—जाने का भी उनका बहुत बार विचार हुआ है। परन्तु सम्मेलनों के कारण और कुछ अपने स्वास्थ्य के कारण वे अपनी इस भावना की पूर्ति अभी तक नहीं कर : सब कुछ क्षेत्र-स्पर्शना पर आधारित है।

उपाध्याय श्री जी महाराज ने समाज को बहुत कुछ दिया है, और भविष्य में भी वे समाज को बहुत कुछ दे सकेंगे। उनके पावन जीवन का वेगवान् यह प्रवहमान प्रवाह युग-युग तक प्रवाहित रहे। यही समस्त समाज की मंगल-भावना और शुभ अभिलाषा है।